प्रकाशक
विजयकृष्ण लखनपाल
'विद्या-विहार', ४ बलबीर एवेन्यू
देहरादून

हमारे ग्रन्थ

१. आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व ४)
२. समाज-शास्त्र के मूल-तत्व १०)
३. धारावाही हिन्दी में सचित्र
एकादशोपनिषद् (मूल सहित) १२)
४. शिक्षा-मनोविज्ञान ५)
५. शिक्षा-शास्त्र (नवीन संस्करण) ४)
६. समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण ४)
७. स्त्रियों की स्थिति (प्रेस में)
[तीसरा संस्करण] ३।।)
८. ब्रह्मचर्य सन्देश (प्रेस में)
[पाँचवाँ संस्करण] ४।।)
९. Confidential Talks to
Yougman ५)
१०. Is Rigveda a Sumerian
Document ?

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सर्कस
नई दिल्ली

विजयकृष्ण लखनपाल
विद्या-विहार, बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून
की प्रकाशित

अमर कृतियाँ

धारावाही हिन्दी में सचित्र

१. एकादशोपनिषद्—मूल-सहित

[ब्रह्म-विद्या]

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

भूमिकालेखक—श्री डा० राधाकृष्णन्, उप-राष्ट्रपति

इस पुस्तक पर उत्तर-प्रदेश की सरकार ने ८०० रुपया पारितोषिक दिया है

१—इसमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर—इन ग्यारह उपनिषदों को सुन्दर, सरल, धारावाही हिन्दी में इस प्रकार दिया गया है कि हरेक व्यक्ति आसानी से सब-कुछ समझ जाय।

२—यह पुस्तक धारावाही हिन्दी में इसलिए लिखी गई है कि संस्कृत की उलझन में बिना पड़े आप इसे पढ़ते चले जायें, और सब-कुछ आसानी से समझते चले जायें। हिन्दी में अब तक ऐसी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई।

३—इस पुस्तक में पचास के लगभग सुन्दर चित्र देकर विषय को स्पष्ट करके समझाया गया है। कोई विषय ऐसा नहीं है जिसे खूब खोल कर समझाया नहीं गया।

४—ऊपर मोटे अक्षरों में हिन्दी भाग दिया गया है, और जो कोई हिन्दी तथा मूल-संस्कृत की तुलना करना चाहे, उसके लिए अंक देकर नीचे संस्कृत-भाग भी दे दिया गया है।

५—पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अनुवाद में मक्खी-पर-मक्खी मारने की कोशिश नहीं की गई, विषय को खोलकर रख दिया गया है। साधारण पढ़े-लिखे लोगों तथा संस्कृत के अगाध-पंडितों—दोनों के लिए ग्रन्थ अद्वितीय है।

६—सत्संगों के लिए, पुस्तकालयों के लिए, निजी संग्रह के लिए, इनाम देने या मित्रों को भेंट देने के लिए इससे बढ़कर दूसरा ग्रन्थ नहीं है। डिमाई साइज के ६५० पृष्ठों की बढ़िया कपड़े की जिल्द है जिसपर तीन रंगों में आर्ट पेपर पर छपा याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का चित्र है। मूल्य: बारह रुपया।

संस्कृति पर सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ

२. आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

इस पुस्तक पर दो हजार रुपया पारितोषिक प्राप्त हुआ है।

१—'दैनिक हिन्दुस्तान' लिखता है—"हम तो यहाँ तक कहने का साहस रखते हैं कि भारत से बाहर जाने वाले सांस्कृतिक मिशन के प्रत्येक सदस्य को इस पुस्तक का अवलोकन अवश्य करना चाहिये। लेखक की विचार-शैली, प्रतिपादन-शक्ति, विषय-प्रवेश की सूक्ष्मता डा० राधाकृष्णन् से टक्कर लेती है।"

२—'नव-भारत-टाइम्स' लिखता है—"लेखक ने आर्य-संस्कृति के अथाह समुद्र में पैठकर, उसका मन्थन करके, उसमें छिपे रत्नों को बाहर लाकर रख दिया है। भाषा इतनी परिमार्जित है कि पढ़ते ही बनती है। इस ग्रन्थ को अगर आर्य-संस्कृति का दर्शन-शास्त्र कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। हिन्दी के संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य में इस ग्रन्थ का स्थान अमर रहने वाला है।"

३—'आर्य' लिखता है—"इस ग्रन्थ के विषय में निस्संकोच कहा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों इसका स्थान साहित्य में बढ़ता जायगा।"

पृष्ठ संख्या २७०, सजिल्द, मूल्य : चार रुपया

३. समाज-शास्त्र के मूल-तत्व

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

इस पुस्तक पर उत्तर-प्रदेश सरकार से एक हजार रुपया पारितोषिक प्राप्त हुआ है।

उत्तर-प्रदेश की सरकार ने इस पुस्तक को 'समाज-शास्त्र' की सर्वोत्तम पुस्तक घोषित कर इस पर एक हजार पारितोषिक देकर लेखक को सम्मानित किया है। बी० ए० तथा एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए 'समाज-शास्त्र' (Sociology) पर लिखी गई पुस्तकों में सरकार ने इस पुस्तक को सर्व-प्रथम स्थान दिया है।

पृष्ठ संख्या ५००, कपड़े की सुन्दर जिल्द, मूल्य : दस रुपया

४. ब्रह्मचर्य सन्देश

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

नव-युवकों को 'ब्रह्मचर्य' जैसे गम्भीर विषय पर, सरल-सुन्दर भाषा में जो कुछ कहा जा सकता है, इस पुस्तक में कह दिया गया है। स्वर्ग-वासी स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज भारत-भूमि के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में 'ब्रह्मचर्य' को क्रियात्मक रूप देने के लिए गुरुकुलों की स्थापना का विचार देश के सामने रखा था। ऐसे महा-पुरुष ने इस पुस्तक की भूमिका इसीलिए लिखी थी क्योंकि उन्होंने पुस्तक के महत्व को देख लिया था। इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्य में अमर स्थान बना लिया है। पुस्तक के चार संस्करण हो चुके हैं। पुस्तक की श्रेष्ठता इसीसे सिद्ध है कि इसके गुजराती में दो स्वतंत्र अनुवाद हो चुके हैं।

खंडवा का 'कर्मवीर'-पत्र लिखता है—"इस विषय पर हिन्दी में सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक खोजपूर्ण और सबसे अधिक ज्ञातव्य बातों से भरी हुई यही पुस्तक देखने में आयी है।"

दिल्ली का 'अर्जुन' लिखता है:—"हम चाहते हैं कि प्रत्येक नव-युवक के हाथ में यह पुस्तक हो।"

लखनऊ की 'माधुरी' लिखती है—"भाषा परिमार्जित और वर्णन-शैली एकदम अछूती है। मालूम होता है, कोई विज्ञान-वेत्ता सांसारिक तत्व-विवेचना पर व्याख्या दे रहा है। आजकल जितनी पुस्तकें इस विषय पर निकली हैं, उन सब में यह बढ़िया है।"

पुस्तक सचित्र तथा सजिल्द है। मूल्य साढ़े चार रुपया।

५. स्त्रियों की स्थिति

[सेकसरिया-पुरस्कार-प्राप्त-ग्रन्थ]

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल, एम. ए., बी. टी. (एम. पी.)

इस पुस्तक की लेखिका को इस पुस्तक के लिखने पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद ने सर्वोत्तम लेखिका घोषित कर ५०० रुपये का सेकसरिया पारितोषिक देकर सम्मानित किया था। इस पुस्तक में स्त्रियों सम्बन्धी प्रश्नों पर बिलकुल मौलिक ढंग से विचार किया गया है। पुस्तक की लेखन-शैली में एक प्रवाह है, विचार-धारा अखंड बह रही है, ऐसा प्रवाह और ऐसी अखंड विचार-धारा जो कम साहित्यिक पुस्तकों में देखने में आती है। यह पुस्तक पिता अपनी पुत्री को, पति अपनी पत्नी को, और भाई अपनी बहन को भेंट दे, तो इससे बढ़कर दूसरी भेंट नहीं हो सकती।

सजिल्द पुस्तक का मूल्य: साढ़े तीन रुपया।

मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त

६. शिक्षा-मनोविज्ञान

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम. ए., बी. टी. (एम. पी.)

'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर यह हिन्दी में सर्वोत्तम पुस्तक है। इस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद ने १२०० रुपये का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक देकर लेखिका को सम्मानित किया था। काशी-विश्वविद्यालय के ट्रेनिंग कालेज के उस समय के प्रिन्सिपल, जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी, रायबहादुर लज्जाशंकर झा ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा था कि चन्द्रावती जी ने ऐसा उत्तम पुस्तक लिखकर हिन्दी-साहित्य की भारी सेवा तो की ही है, साथ ही ट्रेनिंग कालेज को तो वरतंतु के शिष्य के समान १४ करोड़ की दक्षिणा चुका दी है।

इस पुस्तक में ४० के लगभग चित्र दिये गये हैं। इन्टरमीजियेट के 'शिक्षा' तथा 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के विषय को जितना इस पुस्तक में खोल कर समझाया गया है उतना अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं। नार्मल स्कूलों के लिये भी इस ग्रन्थ से अच्छा कोई ग्रन्थ नहीं है। बी० टी० तक के छात्रों के लिये इस ग्रन्थ की उपयोगिता मान ली गई है।

पृष्ठ संख्या ५००, सजिल्द पुस्तक का दाम पाँच रुपया।

७. शिक्षा-शास्त्र (सचित्र)

लेखक—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम. ए., बी. टी. (एम. पी.)

'शिक्षा' के सम्बन्ध में जितने आधुनिक विचार हैं वे सब इस ग्रन्थ में, थोड़े-से में, अत्यन्त सरल तथा रोचक भाषा में दे दिये गये हैं। 'शिक्षा के सिद्धान्त' (Principles of Education), 'शिक्षा की विधि' (Method of Education), 'शिक्षा का विधान' (Organisation of Education) तथा 'भारतीय शिक्षा का आदिकाल से आजतक का इतिहास' (History of Indian Education)—ये सब विषय इस ग्रन्थ में एकसाथ दे दिये गये हैं। इस नवीन संस्करण में शिक्षा-शास्त्रियों के पच्चीस चित्र दिये हैं और सौ पृष्ठ बढ़ा दिये गये हैं। इन्टर के 'शिक्षा' विषय में १९५७ में जिन नये विषयों का समावेश किया गया है वे सब इस नवीन-संस्करण में आ गये हैं। सजिल्द पुस्तक का दाम तीन की जगह पृष्ठ संख्या बढ़ जाने के कारण चार रुपया कर दिया गया है।

उक्त सभी पुस्तकों के मंगाने का पता—

विजयकृष्ण लखनपाल

विद्या-विहार, ४ बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून

भूमिका

[लेखक—आचार्य श्री जुगलकिशोर जी, मंत्री समाज-कल्याण, उत्तर-प्रदेश]

श्री प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की विद्वत्ता से हिन्दी-जगत् भली-भाँति परिचित है। सामाजिक-विज्ञान के क्षेत्र में वे माने हुए विद्वान् हैं, और इस क्षेत्र में उन्होंने साहित्य की जो सेवा की है उसे अन्य विद्वानों तथा भिन्न-भिन्न संस्थाओं ने मुक्त-कंठ से स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में उनके परिचय के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना असंगत है। उनका वर्तमान ग्रन्थ—'समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण'—उनके अन्य ग्रन्थों की उच्च-श्रेणी का समकक्ष ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से समाज-शास्त्र के उन तत्वों का प्रतिपादन किया गया है जिनके आधार पर बालक का विकास होता है। बालक को केन्द्र-बिन्दु बनाकर समाज-शास्त्रीय तत्वों का प्रतिपादन करने वाला हिन्दी में यह प्रथम ग्रन्थ है। आज जब कि समाज-कल्याण की विचार-धारा चारों तरफ़ बहने लगी है तब समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण का पारस्परिक साहचर्य बतलाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। प्रो० सत्यव्रत ने इस ग्रन्थ में बालक के व्यक्तित्व के विकास में सामाजिक-परिस्थिति के महत्व पर बल देते हुए युक्तियों तथा अन्य विद्वानों के प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि बालक जो-कुछ बनता है उसमें माता-पिता का हाथ तो रहता ही है, परन्तु उसके साथ सामाजिक-परिस्थिति का हाथ बहुत अधिक रहता है—एक प्रकार से बालक सामाजिक-परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया का ही परिणाम होता है।

लेखक ने सामाजिक-प्रभावों की विभिन्नता तथा विषमता का विशद विवेचन करते हुए बड़ी उत्तमता से यह दर्शाया है कि किस प्रकार इन सामाजिक-प्रभावों को नियन्त्रित करके हम बालक के व्यक्तित्व का इस प्रकार निर्माण कर सकते हैं कि वह समाज का एक उपयोगी अंग बन सके।

समाज-कल्याण एक नवीन विषय है। इसके अध्ययन करने वाले विद्यार्थी का ज्ञान तबतक अधूरा रहेगा जबतक वह उन सामाजिक-परिस्थितियों तथा प्रभावों की छानबीन नहीं करता जिनका इस ग्रन्थ में अत्यन्त बुद्धि-गम्य तथा विशद भाषा में वर्णन किया गया है। मेरी यह हार्दिक कामना है कि अध्यापकवर्ग तथा समाज-सेवक लोग इस ग्रन्थ का गहराई से अध्ययन करेंव योंकि इस ग्रन्थ के अध्ययन से अध्यापकवर्ग बालकों की समस्याओं को और समाज-सेवक लोग सामाजिक-समस्याओं को स्पष्ट तौर से समझ सकेंगे, और समझ कर उन समस्याओं को सुलझा सकेंगे।

हम अपने देश में एक नवीन सामाजिक-विधान लाने जा रहे हैं, ऐसा सामाजिक-विधान जिसमें प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने व्यक्तित्व के विकास का हर मौका दिया जायगा, जिसमें वह अपने विकास में पूर्ण स्वतन्त्र होगा। इस वैय्यक्तिक-स्वतन्त्रता के साथ हम यह भी चाहते हैं कि वह दूसरों के प्रति भी अपनी नैतिक ज़िम्मेदारियों को समझे, और उसका नैतिक दृष्टिकोण इतना विशाल हो कि मानव-मात्र के प्रति वह सहानुभूति के दृष्टिकोण से विचार कर सके—वह अपने को दूसरों में और दूसरों को अपने में देख सके। ऐसी सामाजिक-व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति के जीवन में विफलता को स्थान नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार की सामाजिक-व्यवस्था में ही हर व्यक्ति की सुरक्षा समाज-कल्याण का मूल आधार है। ऐसी सामाजिक-व्यवस्था में तो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का मान-दंड ही यह है कि वह अपना नहीं दूसरों का कितना भला करता है, साथ ही समाज के विकास का भी मान-दंड यह है कि वह समाज के अंग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की समस्याओं को कहाँ तक हल करता है। जब व्यक्ति समाज की समस्याओं को हल करने में अपने को खो देगा, और समाज व्यक्ति की समस्याओं को हल करने में अपने को खो देगा, तब व्यक्ति तथा समाज का सामञ्जस्य अपने-आप हो जायगा, दोनों की समस्याएँ हल हो जायेंगी।

मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक उन सब के लिए मार्ग-प्रदर्शक का काम करेगी जो बालक के चरित्र-निर्माण तथा व्यक्तित्व-विकास की दिशा में

अनुकूल वातावरण उत्पन्न करना चाहते हैं। इस पुस्तक द्वारा विश्व-विद्यालयों के समाज-शास्त्र के विद्यार्थियों को अपने विषय का ज्ञान बढ़ाने में बहुत अधिक सहायता मिलेगी, उनके लिए यह पाठ्य-पुस्तक का काम दे सकेगी--इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है।

मैं प्रो० सत्यव्रत जी को ऐसा उत्तम ग्रन्थ लिखकर हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि करने के कारण हार्दिक बधाई देता हूँ।

--जुगलकिशोर

लेखक के दो शब्द

यह युग नव-निर्माण का युग है। नई-नई योजनाएँ बनाई जा रही हैं--कहीं बाँध, कहीं बिजली, कहीं वृक्षारोपण, परन्तु यह निर्माण प्राकृतिक पदार्थों का हो रहा है, बाह्य-निर्माण। जहाँ बाँध बँधते हैं, बिजली पैदा होती है, वहाँ ईंट-चूने-सीमेंट की चोरी भी होती है, काम होने के साथ-साथ काम बिगड़ता भी है। ऐसा क्यों होता है ? ऐसा होने का कारण यह है कि हम बाह्य-निर्माण तो करते हैं, आभ्यन्तर-निर्माण नहीं करते, हम बाँध बनाते हैं, परन्तु बाँध बनाने वाले मनुष्य को नहीं बनाते, हम बिजली पैदा करते हैं, परन्तु बिजली पैदा करने वाले मनुष्य की तरफ़ ध्यान नहीं देते। अगर बाह्य साधन सब सुन्दर बन गये, परन्तु उन्हें उत्पन्न करने वाले मनुष्य का अन्तरात्मा बदसूरत रहा, उसमें सचाई, ईमानदारी, सहानुभूति न रही, तो वह इन साधनों को उत्पन्न करने के बाद भी सुखी नहीं हो सकता। बाह्य उपकरण स्वयं साध्य नहीं, किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन मात्र हैं, अगर वह लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ, तो ये सब साधन जुटे-जुटाये निकम्मे हैं। इसी भावना को अनुभव कर आज 'समाज-कल्याण' के शब्द की रचना हुई है। हम जो-कुछ बाह्य-निर्माण करते हैं--बाँध, बिजली, वृक्ष--सब का आधार 'समाज-कल्याण' है। समाज ठीक है, तो वह समाज जो-कुछ बनायेगा सब में कल्याण की पुट होगी; समाज ठीक नहीं, समाज का मानस ठीक नहीं, तो उसकी सुन्दर रचना भी संहार का काम करेगी। आज अणु-बम के इस युग में तो 'समाज-कल्याण' की भावना को और अधिक जागृत करने की आवश्यकता है। अणु-बम एक महान् बाह्य-निर्माण है, परन्तु यह मानव-जाति का संहार ही तो कर सकता है। 'समाज-कल्याण' की भावना ही अणु-शक्ति को मानव की सुख-शान्ति में नियुक्त कर सकती है, 'समाज-कल्याण' की भावना न हो, तो मानव-बिगड़ता-बिगड़ता एक प्रचण्ड दानव का रूप धारण कर सकता है। यह

'समाज-कल्याण' की भावना प्राकृतिक पदार्थों के निर्माण के साथ-साथ मानव के निर्माण पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है, बाह्य-निर्माण के साथ-साथ आभ्यन्तर-निर्माण पर बल देती है, क्योंकि बाह्य-निर्माण तबतक अधूरा और बेजान है जबतक उसमें आभ्यन्तर-निर्माण से जान नहीं पड़ जाती।

परन्तु क्या 'समाज-कल्याण'—इतना कह देने मात्र से समाज-कल्याण हो सकता है? यह तो एक शब्द है। इसमें सन्देह नहीं कि शब्द की रचना तभी होती है जब उस शब्द में भरा हुआ भाव जाग उठता है। आज यह भाव जाग गया है कि बाहर की लीपा-पोती करने के स्थान में हमें समाज की आन्तरिक-भावनाओं को बदलना होगा, ऐसा समाज बनाना होगा जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के मूल-सिद्धान्तों पर आश्रित हो। तभी तो राजनीति में भी पूर्वीय देशों में 'पंच-शील' की चर्चा है। यही सब 'समाज-कल्याण' की भावनाएँ हैं, परन्तु प्रश्नों का प्रश्न यह है कि समाज भी कैसे बदलेगा, किस उपाय से 'समाज-कल्याण'-शब्द जो आज सिर्फ़ एक शब्द है क्रियात्मक रूप धारण करेगा? हमें इसे केवल शब्द के रूप में ही तो नहीं रखना, हमें तो 'समाज-कल्याण' की भावना को क्रिया में उतारना है। इसका उपाय क्या है? इसका उपाय है 'समाज-कल्याण' को 'बाल-कल्याण' के रूप में देखना। हम समाज को बदलना चाहते हैं परन्तु समाज तो बनता है आज के बालकों से—ये बालक ही तो बड़े होकर समाज की रचना करते हैं। जैसे बालक होंगे वैसा समाज होगा। 'समाज-कल्याण' का आधार 'बाल-कल्याण' है, इसलिए 'समाज-कल्याण' करने के लिए 'बाल-कल्याण' आवश्यक हो जाता है, 'बाल-कल्याण' करते हुए 'समाज-कल्याण' अपने-आप हो जाता है, 'समाज-कल्याण' तथा 'बाल-कल्याण' एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, 'बाल-कलयण' से जो प्रक्रिया प्रारंभ होती है, वह विकसित होते-होते 'समाज-कल्याण' का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार मानव के आभ्यन्तर-निर्माण को जब पक्का बना दिया जाय, तब हमारा बाह्य-निर्माण कभी मानव का अहित नहीं कर सकता,

नहीं तो आभ्यन्तर-निर्माण के बिना जो बाह्य-निर्माण होगा वह न जाने मानव-समाज को कहाँ-से-कहाँ भटकाता हुआ ले जाकर खड़ा कर देगा।

जैसे बाँध बनाने और बिजली पैदा करने के लिए इंजीनियरों की जरूरत है वैसे 'समाज-कल्याण' तथा 'बाल-कल्याण' की इमारतों को खड़ा करने के लिए समाज-शास्त्रियों तथा शिक्षा-शास्त्रियों की आवश्यकता है। 'समाज-कल्याण' तथा 'बाल-कल्याण' बाँध-बिजली से कम पेचीदा चीज़ें नहीं हैं। 'समाज-कल्याण' तथा 'बाल-कल्याण' को समझने के लिए इनके आधार में काम कर रहे सिद्धान्तों को समझना ज़रूरी है, और उन्हीं सिद्धान्तों का दिग्दर्शन इस ग्रन्थ में कराया गया है। जैसा श्री आचार्य जुगलकिशोर जी ने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है इस ग्रन्थ का उद्देश्य समाज-सेवकों तथा शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान समाज-निर्माण तथा शिशु-निर्माण के उन सिद्धान्तों की तरफ़ खींच देना है जिन सिद्धान्तों को पकड़कर वे समाज को ठीक दिशा दे सकते हैं। अगर इस ग्रन्थ से समाज-सेवकों तथा शिक्षा-शास्त्रियों की कुछ सेवा हो सकी तो लेखक अपने को धन्य समझेगा।

अपने प्रान्त के समाज-कल्याण के मन्त्री श्री आचार्य जुगलकिशोर जी ने ग्रन्थ की भूमिका लिखकर लेखक को जो सम्मान प्रदर्शित किया है उसके लिए लेखक श्री आचार्य जी का आभारी है।

विद्या-विहार,
बलवीर ऐवेन्यू,
देहरादून।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय-सूची

समाज-शास्त्र (SOCIOLOGY)

वाल-कल्याण (CHILD-WELFARE)

समाज-शास्त्र

[SOCIOLOGY]

१

मानवीय-एषणाएँ या प्रेरक

(HUMAN NEEDS OR DRIVES)

भौतिक-जगत् में कुछ नियम काम कर रहे हैं। इन नियमों का पता लगाना भौतिक-विज्ञानों का—भौतिकी, रसायन-शास्त्र, यान्त्रिकी आदि विद्याओं का—काम है। इन विज्ञानों से जो भौतिक-नियम पता लगते हैं उनमें एक प्रकार की निश्चयात्मकता, अपरिवर्तनशीलता, 'स्थिरता' (Fixity) पायी जाती है। अगर यह नियम पता लगा लिया गया कि पृथिवी में भारी पदार्थों को अपनी तरफ़ खींचने की शक्ति है, तो वह हर पदार्थ को खींचेगी, और सदा खींचेगी। यह नहीं हो सकता कि एक चीज़ को खींचे, दूसरी को न खींचे। अगर यह पता लगाया गया कि ऑक्सीजन तथा हाईड्रोजन जब पास-पास आयेंगे तब मिलकर पानी बना देंगे, तो हर हालत में यह बात निश्चयात्मक रूप में, स्थिर रूप में, अपरिवर्तनीय रूप में होकर रहेगी। भौतिक-जगत् के इसी स्थिरता के तत्व के आधार पर हम भौतिक-जगत् की अनेक घटनाओं के विषय में पहले से बतला सकते हैं कि यह बात इस प्रकार होकर रहेगी। हम यह बतला सकते हैं कि अमुक दिन चन्द्र-ग्रहण होगा, कल-परसों, महीने बाद, साल बाद सूर्य इतने बजे, इतने मिनट और इतने सेकण्ड पर उदय होगा। यह सब-कुछ इसलिए किया जा सकता है क्योंकि भौतिक-जगत् के नियमों में 'स्थिरता' (Fixity) का तत्व काम कर रहा होता है।

तो क्या जैसे भौतिक-जगत् में 'स्थिरता' का तत्व काम करता है, वैसे प्राणी-जगत् में भी 'स्थिरता' का ही तत्व काम करता है? क्या अमुक स्थिति उपस्थित होने पर प्राणी अमुक तौर पर निश्चित, स्थिर, अपरिवर्तनीय व्यवहार करेगा, और क्या हम पहले से ही वतला सकते हैं कि ऐसी स्थिति हो, तो प्राणी का ऐसा व्यवहार होगा, दूसरे प्रकार की स्थिति हो, तो प्राणी इस दूसरे प्रकार का व्यवहार करेगा?

१. नैसर्गिक-शक्तियाँ (Instincts)

इस प्रश्न का एक उत्तर यह है कि कई वातों के विषय में तो प्राणी के सम्बन्ध में निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि अमुक स्थिति में प्राणी ऐसा ही व्यवहार करेगा, इससे भिन्न व्यवहार नहीं करेगा। उदाहरणार्थ, अगर साँस बिल्कुल रोक दिया जाय, तो प्राणी मर जायगा, अगर विल्कुल नहीं, परन्तु काफ़ी देर तक रोका जाय, तो साँस लेने के लिए जी-तोड़ हाथ-पैर मारेगा। अगर टट्टी-पेशाव आ रहा हो, तो टट्टी-पेशाव जायगा। भूख-प्यास लग रही हो, तो खाने-पीने की तलाश करेगा। मनोवैज्ञानिकों ने प्राणी की इस प्रकार की आधार-भूत आवश्यकताओं का पता लगाने का प्रयत्न किया है, और उन आवश्यकताओं का वर्गीकरण किया है। इस प्रकार के वर्गीकरण करनेवाले विद्वानों में सबसे मुख्य स्थान श्री मैग्डूगल का है। उनका कथन है कि जैसे भौतिक-जगत् में कुछ आधार-भूत स्थिर नियम काम कर रहे हैं, ठीक वैसे ही प्राणी-जगत् में भी कुछ आधार-भूत स्थिर नियम काम कर रहे हैं। प्राणी-जगत् के ये आधार-भूत नियम 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) कहाती हैं।

'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) कौन-कौन-सी हैं ? मैग्डूगल ने (McDougall) इनका वर्गीकरण करते हुए चौदह 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) गिनाई हैं। वे हैं :—

१. पलायन—Escape
२. युयुत्सा—Cambat, Pugnacity
३. निवृत्ति—Repulsion
४. सन्तान-कामना—Parental instinct
५. संवेदना—Appeal
६. भोग—Mating or Sex instinct
७. जिज्ञासा—Curiosity
८. दैन्य—Submission
९. आत्म-गौरव—Self-assertion
१०. सामूहिक जीवन—Gregariousness
११. भोजनान्वेषण—Food-seeking
१२. संचय—Acquisition
१३. विधायकता—Constr uctiveness
१४. हास—Laughter

इन चौदह मुख्य-मुख्य 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Chief Instincts) के अलावा मैग्डूगल ने निम्न चार 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) का भी परिगणन किया है:—

१. संकेत—Suggestion
२. सहानुभूति—Sympathy
३. अनुकरण—Imitation
४. खेल—Play

ऊपर जिन 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) का वर्णन किया गया है उनमें से हँसने को छोड़कर शेष सब पशु-जगत् तथा मनुष्य-जगत् दोनों में पायी जाती हैं। इनमें 'स्थिरता' (Fixity) का तत्व काम कर रहा है। भयावनी वस्तु सामने होने पर प्राणी पलायन करेगा, उससे बचने का प्रयत्न करेगा, मरने का प्रयत्न नहीं करेगा। कोई बुरा कह दे, हमारे काम में रुकावट डाले, तो स्वभाव यही है कि प्राणी उससे लड़ने को उद्यत हो जाय। निसर्ग से प्राणी सन्तान उत्पन्न करने में प्रवृत्त रहेगा, इधर-उधर जो-कुछ देखेगा उसे जानने की प्राणी में जिज्ञासा भी रहेगी।

प्राणी की 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) में स्थिरता का, निश्चितता का, अपरिवर्तन का तत्व कहाँ से आता है? यह आता है 'वंशपरंपरा' (Heredity) से। एक ख़ास परि-स्थिति में प्राणी एक ख़ास प्रकार की ही प्रतिक्रिया क्यों करता है? भयानक वस्तु सामने देखकर उससे बचने का क्यों प्रयत्न करता है, भाग क्यों खड़ा होता है? इसलिए कि लाखों-करोड़ों साल पहले जब उस प्राणी के पूर्वजों का विकास हो रहा था तब अनेक बार संकट उपस्थित हुआ, उस संकट में से बचने के लिए उन्होंने जो अनेक प्रतिक्रियाएँ कीं, उनमें जिनसे सफलता मिली उन्हें प्राणी ने चुन लिया, दूसरों को छोड़ दिया, ऐसा होते-होते कुछ प्रतिक्रियाएँ 'निश्चित' रूप धारण कर गईं, और वे अब सन्तान-से-सन्तान में आने लगीं। ख़ैर, यह तो 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) के उद्भव का, इनकी पहले-पहल उत्पत्ति कैसे हुई इसका प्रश्न है। 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) को मानने वाले

यह भी कह सकते हैं कि इनका प्रारंभ कैसे हुआ यह हम नहीं कह सकते, इतना कह सकते हैं कि प्राणी जब उत्पन्न होता है तब माता-पिता से वंशपरंपरा में अपने व्यवहार के इन स्थिर-तत्वों को लेकर आता है, ये स्थिर-तत्व, ये 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Intincts) ही उसके जीवन के सम्पूर्ण व्यवहार को बनाती हैं, इन्हींके आधार पर उसके जीवन का चक्र चलता है।

२. प्रेरक-शक्तियाँ अथवा एषणाएँ (Drives or Needs)

मैग्डूगल के उक्त विचार से 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) सहमत नहीं। 'सामाजिक-मनोविज्ञान' का कथन है कि प्राणी-जगत् तथा मनुष्य-जगत् में भेद है। जो 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) प्राणी-जगत् में पायी जाती हैं, उनमें स्थिरता, निश्चितता, अपरिवर्तन (Fixity) का तत्व है—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु मनुष्य के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वंशपरंपरा से उसे जो-कुछ प्राप्त होता है उसमें स्थिरता, निश्चितता या अपरिवर्तन है। निम्न-श्रेणी के प्राणियों में 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) ही प्राणी के व्यवहार का निश्चय करती है—यह ठीक है। किसी-किसी प्राणी में वंश-परंपरागत व्यवहार, अर्थात् नैसर्गिक-शक्ति द्वारा प्राप्त व्यवहार के अतिरिक्त प्राणी दूसरा-कुछ कर ही नहीं पाता। उदाहरणार्थ, चींटियों में संगठित रूप से काम करने की नैसर्गिक-शक्ति बड़ी ज़बर्दस्त है। आज से करोड़ों साल पहले के चींटियों के बनाये घरों को देखकर प्रो० वीलर अपनी 'Social Life of Insects' में लिखते हैं कि उस समय चींटियों में जो संगठन का विकास था आज भी वह वैसे-का-

वैसा है; उसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। परन्तु मनुष्य के विषय में ऐसा-कुछ नहीं कहा जा सकता। चींटियों के संगठन में; उनकी कार्य-प्रणाली में, करोड़ों साल बीत जाने पर भी वही स्थिरता दीख पड़ती है, वही निश्चितता, वही अपरिवर्तन, परन्तु उस समय के मनुष्य और आज के मनुष्य में कितना भेद है। उस समय वह जंगल में रहता था, कच्चा खाता, खुले में पड़ रहता, और आज का रेडियो और मोटर वाला मनुष्य—ज़मीन-आस्मान का भेद पड़ गया है! पशु-जगत् में 'स्थिरता' है, मनुष्य-जगत् में स्थिरता नहीं, 'अस्थिरता' है, अपरिवर्तन नहीं, परिवर्तन है, निश्चितता नहीं, अनिश्चितता है। कितना बड़ा भेद है यह।

पशु तथा मनुष्य के बीच यह आधार-भूत भेद कुछ बातों से और अधिक स्पष्ट हो जायगा। पशु-पक्षी का व्यवहार वंश-परंपरागत 'नैसर्गिक-शक्तियों' द्वारा ही चलता है। मुर्ग़ी का बच्चा अंडे में से निकलते ही बिना सिखाये ज़मीन पर चोंच मारने लगता है, कुत्ते का बच्चा बिना सिखाये तैरने लगता है, पक्षी का बच्चा बिना सिखाये पंख निकलने पर उड़ने लगता है, परन्तु मनुष्य का बच्चा बिना सिखाये कुछ नहीं करता। हाथ-पैर वह ज़रूर पटकता है, बाकी कुछ उसके बस का नहीं, एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि पैदा होते समय मानवीय-शिशु मुर्ग़ी के बच्चे से भी अपने विकास में पछड़ा होता है। इसका एक लाभ है। अगर मानवीय-शिशु वंशपरंपरा से ही खाने का ढंग निश्चित किया हुआ लाया होता, तो वह उस ढंग के अलावा किसी दूसरे ढंग का विकास ही न कर पाता, क्योंकि वह वंश-

परंपरा से कुछ निश्चित, स्थिर तथा अपरिवर्तनीय व्यवहार साथ नहीं लाया इसलिए खाने में उसने कितनी उन्नति की है। कोई हाथ से खाता है, कोई चम्मच से खाता है, कोई नीचे बैठ कर खाता है, कोई मेज़-कुर्सी लगाकर खाता है। पशु-पक्षी का खाने-पीने में एक निश्चित व्यवहार है, मनुष्य का भिन्न-भिन्न है, बदलता रहता है, उसमें विकास होता रहता है। बया एक छोटा-सा पक्षी है। वह जन्मते ही वंश-परंपरा से घोंसला बनाने की 'नैसर्गिक-शक्ति' साथ लाता है, परन्तु करोड़ों साल पहले के बये के घोंसले में और आज के बये के घोंसले में कोई भेद नहीं है। मनुष्य भी अगर वंश-परंपरा से एक खास प्रकार का घर बनाने की 'नैसर्गिक-शक्ति' साथ लाता, तो सब जगह एक-से ही मकान दृष्टिगोचर होते, तरह-तरह के भवन न दीख पड़ते। मनुष्य क्योंकि 'नैसर्गिक-शक्ति' पर आश्रित नहीं है इसलिए वह एक-से-एक बढ़कर मकान बनाकर खड़ा कर देता है।

तो क्या मनुष्य में 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) नहीं है, यह पशु में ही है? इसका उत्तर 'सामाजिक-मनोविज्ञान' के विद्वान् यह देते हैं कि 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct)-शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया जाता है कि प्राणी में कुछ ऐसी स्थिर शक्तियाँ हैं जिनके कारण प्राणी एक निश्चित परिस्थिति में एक निश्चित प्रकार का ही व्यवहार कर सके, दूसरी प्रकार का न कर सके, प्राणी की शारीरिक-रचना ही इस प्रकार की होती है कि वह उसी प्रकार का व्यवहार कर सकता है, दूसरी प्रकार का नहीं। इस अर्थ में पशु-पक्षी के साथ तो यह बात ठीक लागू होती है, उनमें 'स्थिरता' का ही नियम दिखाई देता है, परन्तु

मनुष्य में कुछ बातें स्थिर हैं, तो कुछ 'अस्थिर' भी हैं, कुछ निश्चित हैं, तो कुछ अनिश्चित भी हैं, कुछ अपरिवर्तनीय हैं, तो कुछ परिवर्तनीय भी हैं। मनुष्य में जो स्थिर-तत्व वंश-परंपरा से आते हैं, उन्हें 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) कहने में 'सामाजिक-मनोविज्ञान' को कोई आपत्ति नहीं, परन्तु क्योंकि मनष्य के स्थिर-तत्वों में अस्थिरता का, परिवर्तन का, विकास हो सकने का बीज अन्तर्निहित रहता है, और 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct)-शब्द का प्रयोग वहीं होता है जिसमें अस्थिरता, परिवर्तन, विकास न हो, स्थिरता तथा अपरिवर्तन ही हो, इसलिए 'सामाजिक-मनोविज्ञान' के पंडित 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) की जगह 'प्रेरक-शक्ति' (Drives), 'मानवीय-एषणाएँ' (Human needs, wants, impulses)-शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझते हैं। 'प्रेरक-शक्ति' (Drives), 'एषणाएँ' (Needs) ऐसी शक्तियाँ हैं जो स्थिर-तत्वों तक ही मनुष्य को बाँधे नहीं रखतीं, वे स्थिर-तत्वों को आधार बनाकर मनुष्य को आगे-आगे ले जाती हैं, और मनुष्य इनके आधार पर अपने व्यक्तित्व का भवन खड़ा करने लगता है। एक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि मैग्डूगल जिन शक्तियों को 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) कहता है, उन्हीं को 'सामाजिक-मनोविज्ञान' के पंडित 'प्रेरक-शक्ति' (Drive) या 'एषणा' (Human need) कहते हैं। 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) से पशु का 'व्यक्तित्व' बनता है, 'प्रेरक-शक्ति' (Drive) से मनुष्य का 'व्यक्तित्व' बनता है। भेद यह है कि 'नैसर्गिक-शक्ति' के आधार पर बने हुए 'व्यक्तित्व' में स्थिरता होती है,

अपरिवर्तन होता है, प्राणी का यान्त्रिक-सा व्यवहार होता है, पशु-पक्षी का जैसा व्यवहार होता है वैसा होता है; 'प्रेरक-शक्ति' के आधार पर बने हुए 'व्यक्तित्व' में परिवर्तन हो सकता है, विकास हो सकता है, मनुष्य का-सा व्यवहार हो सकता है।

हमने देखा कि पशु-पक्षी वंश-परंपरा से कुछ शक्तियाँ पाते हैं, मनुष्य भी वंश-परंपरा से कुछ शक्तियाँ पाता है, परन्तु मनुष्य की वंश-परंपरागत शक्तियों में अपरिवर्तन के साथ परिवर्तन की सामर्थ्य भी जुड़ी रहती है, और इसीलिए इन्हें 'प्रेरक-शक्ति' (Drives) कहा जाता है। कई मनोवैज्ञानिक पशु-पक्षी तथा मनुष्य सब में जो यह स्थिर-शक्ति पायी जाती है, जिस शक्ति के कारण मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-पतंग किन्हीं खास परिस्थितियों में एक खास प्रकार का, निश्चित प्रकार का व्यवहार करते हैं, उसे 'प्रेरक-शक्ति' (Drive) ही कहते हैं, पशुओं में 'नैसर्गिक' (Instinct) कहें, मनुष्यों में 'प्रेरक' (Drive)—ऐसा भेद नहीं करते। अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि मनुष्य की ये स्थिर-शक्तियाँ, ये 'प्रेरक' (Drives) जिनमें परिवर्तन की सामर्थ्य रहती है, क्या ये पशु-पक्षी की 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) से भिन्न हैं, या नहीं हैं?

इनका उत्तर 'सामाजिक-मनोविज्ञान' के पंडित यह देते हैं कि 'पशु' की 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) और मनुष्य की 'प्रेरक-शक्ति' (Drive) में भेद है। पशु में अनेक 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) होती हैं। जो चौदह 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) मैग्डूगल ने गिनाई हैं, वे पशु में तो जन्मते ही पायी जाती हैं, परन्तु मनुष्य के बालक में इनमें

से कुछ पायी जाती हैं, कुछ नहीं। उदाहरणार्थ, क्या 'सामूहिक-जीवन' (Gregariousness) आधार-भूत 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) है ? समाज-शास्त्रियों का कहना है कि 'सामूहिक-जीवन' मनुष्य की आधार-भूत 'नैसर्गिक-शक्ति' नहीं है। पशु में भी यह नैसर्गिक-शक्ति आधार-भूत है, इसमें भी उन्हें सन्देह है। यह तो सामाजिक-जीवन में अन्य आधार-भूत नैसर्गिक-शक्तियों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती है। जब बालक यह देख लेता है कि उसका दूसरों के वग़ैर गुज़ारा नहीं, तब वह समूह में जाने लगता है। दूसरों के वग़ैर उसका खाना-पीना, रहना-सहना नहीं हो सकता। माता-पिता की देख-रेख छूट जाय, तो वह कैसे जीये ? नतीजा यह होता है कि बालक में 'सामूहिकता' (Gregariousness) की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसलिए जहाँ 'मनोवैज्ञानिक-लोग' 'सामूहिक-जीवन' को 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) मानते हैं, वहाँ 'सामाजिक-मनोविज्ञान' के पंडित इसे 'आधार-भूत-प्रेरकों' (Basic drives) का परिणाम मानते हैं।

३. आधार-भूत प्रेरक-शक्तियाँ (Basic Drives or Needs)

तो फिर 'आधार-भूत मानवीय प्रेरक' (Basic human drives or needs) कौन-से हैं ? इनका वर्गीकरण किंबल यंग (Kimball Young) ने निम्न प्रकार किया है :—

(क) पहले तो शरीर की 'आन्तरिक-रचना' कुछ इस प्रकार की है जिसके कारण कुछ 'प्रेरक'—कुछ शारीरिक 'इच्छाएँ'—'एषणाएँ'—'कुछ चाहें'—शरीर की आन्तरिक-रचना के कारण हमारे व्यवहार के 'आधार-भत-प्रेरक' (Basic drives

or needs) कहे जासकते हैं। वे हैं:—

१. श्वास-प्रश्वास, रुधिर की गति तथा शरीर के ताप की स्थिरता की चाह (Respiration, Circulation and Temperature stability),
२. जीवन-धारण, भूख-प्यास मिटाने की चाह (Sustenance, hunger and thirst),
३. मल-विसर्जन (Elimination)— मल, मूत्र, पसीना, श्वास द्वारा मलों का बाहर निकालना,
४. अंग-परिचालन से उत्पन्न थकान को निद्रा द्वारा दूर करना (Sleep),
५. सन्तानोत्पादन (Reproduction)—यह बचपन में नहीं होती, परन्तु शरीर के 'परिपाचन' (Maturity) पर प्रकट होती है।

(ख) कुछ 'प्रेरक' (Drives) ऐसे हैं जो शरीर की आन्तरिक-रचना पर आश्रित तो नहीं हैं, परन्तु शरीर के बाहर के कारणों से उत्पन्न होकर प्राणी को प्रभावित करते हैं—

६. दु:ख-दर्द की वस्तु का परित्याग या उससे हटने की चाह (Aviodance and withdrawal),
७. सुख की वस्तु की तरफ़ जाना, आराम, सुरक्षा की की चाह (Shelter),
८. जीवन-दायक सन्तोषप्रद कारणों से विशेष सन्तोष का मिलना (Satisfaction from satisfied sustenance),
९. जननेन्द्रिय की उत्तेजना से आनन्द अनुभव करना (Sex satisfaction).

(ग) ऊपर जिन नौ 'प्रेरक-कारणों' (Drives or Needs) का उल्लेख किया गया है, जिनका सम्बन्ध शरीर की आन्तरिक-रचना से तथा शरीर को बाहर से प्राप्त होनेवाले कारणों से है, उन कारणों के उपस्थित होने पर शरीर कुछ आधार-भूत प्रतिक्रिया करता है, ऐसी प्रतिक्रिया जो सब प्राणियों में समान है। वह प्रतिक्रिया निम्न प्रकार की होती है :—

१०. किसी प्रकार का वाणी से उच्चारण (Vocalization),

११. किसी प्रकार का शारीरिक-पेशियों का परिचालन (Muscular activity)

१२. मानसिक तथा भावात्मक विचारों का वाह्य-प्रदर्शन (Overt reactions arising from feelings and emotions).

ये बारह स्थिर-तत्व हैं, इनको सीखना नहीं पड़ता, ये प्राणी को वंश-परंपरा से मिलते हैं—पशु-पक्षी-कीट-पतंग सव में ये थोड़े-वहुत पाये जाते हैं। ये शरीर के साथ संवद्ध हैं, और इनके बिना कोई प्राणी जी ही नहीं सकता, इसलिए इन 'प्रेरकों' (Drives or Needs) को किम्वल यंग ने 'शारीरिक-आज्ञप्ति' या 'जैविक आवेग' (Physiological imperatives or Biological impulses) कहा है। ये 'प्रेरक' तो पशु और मनुष्य दोनों में समान हैं—'आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।' परन्तु मनुष्य पशुओं के स्तर पर तो नहीं रह सकता। परिणाम यह होता है कि इन आधार-भूत 'प्रेरकों' को लेकर जब मनुष्य, समाज में, दूसरों के सम्पर्क में आता

है तब उन 'प्रेरकों' में परिवर्तन आ जाता है, और आधार-भूत 'प्रारंम्भिक-प्रेरकों' से नये-नये 'प्रेरक' उत्पन्न होने लगते हैं। प्रारंभिक बारह 'प्रेरक' जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है सीखे नहीं जाते, वंश-परंपरा से सन्तान-से-सन्तान में आते हैं, इसके बाद समाज में जो 'नये-नये प्रेरक' (New drives) बनते हैं, वे सीखे जाते हैं, वे प्रारंभ से वंश-परंपरा द्वारा नहीं प्राप्त होते। उदाहरणार्थ, बालक की प्रारंभिक आवश्यकता तो भोजन की है, परन्तु यह आवश्यकता माता-पिता के बिना पूरी नहीं हो सकती, इसे पूरा करने के लिए समाज की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीवन-धारण करने की बालक की जो आधारभूत इच्छा है, वह उसके अकेले पड़े रहने से पूरी नहीं हो सकती, उसके लिए उसका समूह में, भले ही वह माता-पिता का समूह हो, आना ज़रूरी है। इसीसे 'सामूहिक-भावना' (Gregariousness) का उदय होता है। तो फिर 'सामूहिक-भावना' मनुष्य की प्रारंभिक, आधार-भूत, स्थिर वस्तु नहीं है, यह तो भूख-प्यास आदि जो स्थिर-प्रेरक हैं, उनसे उत्पन्न होती है। इसी तरह इन्हीं प्रारंभिक बारह 'आधार-भूत प्रेरकों' से से अन्य 'प्रेरक' (Drives) सामाजिक-परिस्थितियों के कारण बनते रहते हैं--यह समाज-शास्त्रियों का कहना है।

'प्रारंभिक-प्रेरक' कहाँ से उत्पन्न होते हैं? हमने देखा कि शरीर की रचना ही ऐसी है कि इन प्रारंभिक-'आधारभूत प्रेरकों' (Basic drives) को लेकर ही प्राणी उत्पन्न होता है। शरीर की आधार-भूत रचना ही ऐसी है इसीलिए इन्हें 'शारीरिक-आज्ञप्ति' (Physiological imperatives), 'जैविक-प्रेरक' (Biologi-

cal impulses) या 'आधारभूत-प्रेरक' (Basic drives या Needs) कहा जाता है। परन्तु जैसे हमने पहले कहा, यह तो प्राणी की रचना में स्थिर, निश्चित, अपरिवर्तनीय तत्व है। मनुष्य तथा पशु में यही तो भेद है कि इस स्थिर तत्व के अलावा मनुष्य में अस्थिर, अनिश्चित तथा परिवर्तन का तत्व भी काम करता है। हम पशु में उसकी आधारभूत तथा नैसर्गिक बातों में परिवर्तन नहीं ला सकते, ला सकते भी हैं तो बहुत थोड़ा, परन्तु मनुष्य में ज़मीन-आस्मान का परिवर्तन ला सकते हैं। परिवर्तन ला सकने की बात दूर रही, मनुष्य के व्यवहार में हम लगातार परिवर्तन लाते ही रहते हैं। उदाहरणार्थ, यह तो प्रारंभिक आधारभूत प्रेरणा है कि भोजन को देखकर प्राणी अगर भूखा है, तो भोजन पर लपके। हर प्राणी ऐसा करता है। जानवर भूखा हो तो शिकार पर झपट पड़ता है, कोई दूसरा खा रहा हो, तो उसे मार भगाने का प्रयत्न करता है। यह तो मूल-प्रेरणा हर प्राणी में है ही, परन्तु मनुष्य के बालक को हम अपने समाज में इस प्रकार ढाल लेते हैं कि वह भोजन पर झपटता नहीं है, दूसरों को खाते देखकर उनसे लड़ने भी नहीं लग जाता। वह एक प्रकार का सभ्य व्यवहार सीख जाता है। पशु-पक्षी जब मल-मूत्र आया तभी, और जहाँ आया वहीं उसका परित्याग कर देते हैं। मनुष्य के बालक को यह सिखा दिया जाता है कि हर जगह टट्टी-पेशाब नहीं करते फिरना, सब के सामने बैठकर टट्टी-पेशाब नहीं करना, ये-सब एकान्त में बैठकर करना। वह मौके-मौके पर इन पर नियन्त्रण करना भी सीख जाता है। पशु-पक्षी अपने लैंगिक-जीवन में भी बेतकल्लुफ़ होते हैं। उन्हें इस बात की कोई

तमीज़ नहीं कि वे क्या कर रहे हैं। मनुष्य में यह बात नहीं है। वह स्त्री के प्रति पशु का-सा व्यवहार नहीं करता, उसका व्यवहार सभ्यतापूर्ण होता है। मनुष्य तथा पशु के व्यवहार में जो यह भेद उत्पन्न हो जाता है उसका कारण समाज है। पशु का जीवन 'शारीरिक-आज्ञप्ति' (Physiological imperatives) से चल रहा है, 'जैविक-आवेगों' (Biological impulses) से चल रहा है, 'आधारभूत-प्रेरकों' (Basic Drives or Needs) से चल रहा है; मनुष्य के जीवन में इन स्थिर-तत्वों में परिवर्तन लाने वाला एक नया तत्व उत्पन्न हो जाता है। वह तत्व है—समाज, संस्कृति, परंपराएँ। मनुष्य का बालक जब अपने को समाज में पाता है, तब वह पशु की तरह बेतकल्लुफ़ी का व्यवहार नहीं करता, नैसर्गिक-प्रवृत्तियों के बस में जैसा उसे करना चाहिए वैसा करने के स्थान में माता-पिता, सगे-सम्बन्धी, साथी, समाज उससे जैसी आशा करते हैं वैसा व्यवहार करता है। इसका क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण के आधार में 'आधारभूत-प्रेरक' (Basic drives or Needs) तो हैं ही, परन्तु ये आधारभूत स्थिर-तत्व समाज के सम्पर्क के कारण बदलते रहते हैं, उनका प्राथमिक रूप नहीं रहता। जैसे शरीर की रचना के कारण प्राणी एक ख़ास तरह का व्यवहार करने के लिए बरबस होता है, बाधित होता है, वैसा ही व्यवहार उसे करना पड़ता है, दूसरी तरह का वह कर ही नहीं सकता, इसीको 'शारीरिक-आज्ञप्ति' (Physiologcial imperative) कहा जाता है, वैसे ही समाज, संस्कृति, परंपरा, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी, साथी

जैसा व्यवहार बालक से चाहते हैं वैसा उसे करना पड़ता है, उसके प्रतिकूल वह करे, तो उसकी समाज में कोई गिनती नहीं रहती, इसीको 'सांस्कृतिक-आज्ञप्ति' (Social or cultural Imperative) कहा जाता है। 'शारीरिक-आज्ञप्ति' (Physiological imperative) के कारण प्राणी का एक ख़ास तरह का व्यवहार होता है, 'सांस्कृतिक-आज्ञप्ति' (Cultural imperative) के कारण बालक का भी एक ख़ास तरह का व्यवहार होता है। किस ख़ास तरह का? इस ख़ास तरह का कि वह भूख-प्यास, मल-मूत्र-त्याग, लिंग-सम्बन्धी बातों को पशुओं की तरह नहीं, परन्तु संस्कृति जैसा उससे चाहती है वैसा करता है। यही स्थिर-तत्व में परिवर्तन का तत्व है।

हमने ऊपर बारह 'आधारभूत-प्रेरकों' (Basic drives) का वर्णन किया। ये बारह जैसा हमने देखा एक लम्बी-चौड़ी फ़ेहरिस्त है। कई विद्वानों के मत में 'आधारभूत-प्रेरक' (Basic drives) तीन हैं। वे तीन निम्न हैं :—

(१) भूख (Hunger)
(२) लैंगिक-इच्छा (Sexual demand)
(३) शारीरिक-रक्षा की इच्छा (Need for bodily protection)

भारतीय विचारकों ने भी मानव-जीवन के प्रेरकों का वर्णन करते हुए तीन नैसर्गिक 'एषणाओं' का ज़िक्र किया है :—

(१) पुत्रैषणा,
(२) वित्तैषणा,
(३) लोकैषणा।

मनोविश्लेषणवादी श्री फ्रायड के मत में 'आधारभूत-प्रेरक' सिर्फ़ दो हैं :—

(१) लैंगिक-इच्छा (Sex)
(२) अहंत्व (Ego)

ये लोग किवल यंग प्रतिपादित बारहों 'प्रेरकों' को इन्हीं दो के अन्तर्गत कर लेते हैं। कहने का अभिप्राय सिर्फ़ यह है कि वंश-परंपरा से तो उक्त १२, या ३, या २ ही 'स्थिर-तत्व' प्राणी को मिलते हैं। इन्हें सीखना नहीं पड़ता, ये स्वभाव से प्राप्त होते हैं, नैसर्गिक हैं, 'विना-सीखे' (Unlearned) हैं। बाकी सब, अर्थात् वे सब जिनको मैग्डूगल तथा अन्य मनोवैज्ञानिक वंश-परंपरा से आया मानते हैं, उन सबको प्राणी समाज में सीखता है, वे सब 'नैसर्गिक' नहीं, 'सीखे हुए' (Learned) कहे जाने चाहियें—यह 'सामाजिक-मनोविज्ञान' का कहना है। जन्म से प्राप्त हुए स्थिर-तत्व तो 'शारीरिक-प्रेरक' (Physiological Drives) ही हैं, वे चाहे १२ हों, चाहे ३ हों, चाहे २ हों, बाकी सब का विकास समाज द्वारा होता है, भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियों द्वारा होता है—एक परिस्थिति में प्राणी एक प्रकार का व्यवहार सीख जाता है, तो दूसरे प्रकार की परिस्थिति में वह दूसरा व्यवहार सीख जाता है। प्राणी में उक्त 'स्थिरता' (Fixity) के रहते हुए भी उस में जो 'परिवर्तन' (Flexibility) का नियम काम कर रहा है उसके आधार पर 'आधारभूत-प्रेरकों' (Basic Drives) से अन्य अनेक प्रेरक बनते रहते हैं। मैग्डूगल आदि ने जो 'आधारभूत-प्रेरक' माने हैं उनमें से अनेक समाज की परिस्थिति में ही उत्पन्न होते हैं।

समाज-शास्त्रियों के अनुसार 'प्रारंभिक' या 'आधारभूत-प्रेरक' (Primary or Basic Drives) कहने के स्थान में उन्हें 'द्वितीय श्रेणी के प्रेरक' (Secondary Drives) कहना चाहिये।

कई 'सामाजिक-मनोविज्ञान' के पंडित इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। वे हरेक 'प्रेरक' को समाज की परिस्थिति का ही परिणाम मानते हैं, सिर्फ़ 'सहज-क्रिया' (Reflex Action) को ही 'आधारभूत-प्रेरक' (Basic Drive) मानते हैं। उनका कहना है कि आँख का झपकना, सूई या काँटा चुभने पर एकदम जो क्रिया की जाती है यह तथा इसी प्रकार की शरीर की जो 'सहज-क्रियायें' (Reflex Actions) हैं वही स्थिर-तत्व हैं, वही 'वंश-परंपरा' (Heredity) से आते हैं, बाकी सब-कुछ 'परिस्थिति' (Environment) का परिणाम है, बाकी सब सामाजिक है।

हम इन विवादों में नहीं पड़ना चाहते। हमने यहाँ सिर्फ़ 'मनोविज्ञान' (Psychology) का तथा 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) का दृष्टि-कोण दे दिया है जिससे विषय को समझने में सभीता हो।

४. क्रिया-चक्र (Cycle of Activity)

अब प्रश्न यह रह जाता है कि 'शारीरिक-प्रेरक' (Physiological Drive), 'मानसिक-प्रेरक (Psychological Drive) अथवा 'साँस्कृतिक-प्रेरक' (Cultural Drive) के उपस्थित होने पर मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया कौन-सी होती है जिससे प्राणी व्यवहार में प्रवृत्त हो जाता और क्रिया करने लगता है?

'प्रेरक' (Drive) का अपने-आप में कोई महत्व नहीं है, इसका महत्व सिर्फ़ इस बात में है कि यह प्राणी को अपने 'लक्ष्य' (Goal) तक, अपने ध्येय तक पहुँचा दे। 'प्रेरकों' का प्रयोजन प्राणी को 'लक्ष्य' (Goal) तक पहुँचाना है। 'प्रेरक' प्राणी को लक्ष्य तक कैसे पहुँचाता है ? 'प्रेरक' (Drive or Need) से 'लक्ष्य-प्राप्ति' (Achievement of Goal) तक पहुँचने को ही 'एषणा की पूर्ति' (Satisfaction of Need) कहा जाता है। तो फिर 'प्रेरक' के उत्पन्न होने से लेकर 'अभिलाषा की पूर्ति' तक पहुँचने में क्या मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया होती है ? इस प्रक्रिया के चार रूप हैं :—

(१) सबसे पहले तो 'प्रेरक' (Drive) उत्पन्न होता है। इस 'प्रेरक' को 'एषणा', 'इच्छा', 'आवश्यकता', 'चाह' (Need, Want, Demand) कह सकते हैं। यह 'प्रेरक' शरीर अथवा मन की किसी 'आवश्यकता' के कारण उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, हमें भूख लगी। भूख एक 'प्रेरक' है, 'एषणा' है, 'आवश्यकता' है, 'चाह' है। भूख लगने पर क्या हुआ ? भूख लगने पर प्राणी के भीतर एक 'तनाव' (Tension) उत्पन्न हो गया, एक खलबली, एक असन्तोष, एक बेचैनी, एक प्रकार की अस्वस्थता। इस 'तनाव' (Tension) को हम 'शारीरिक-तनाव' (Physiological Tension) कह सकते हैं, क्योंकि यह 'शारीरिक-प्रेरक' (Physiological Drive) के द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार, शत्रु को सामने देखकर उससे बचने के लिए भय उत्पन्न होता है। इस तनाव को हम 'मानसिक-तनाव' (Psychological Tension) कह सकते हैं क्योंकि

यह भय-रूप 'मानसिक-प्रेरक' (Psychological Drive)
द्वारा उत्पन्न हुआ है। अव कल्पना कीजिये कि वच्चे को मल-मूत्र
विसर्जन के लिए जाना है। घर में मेहमान लोग बैठे हैं। उनके
सामने इस बात को ज़ाहिर करना सभ्यता के विरुद्ध है। जाना
ज़रूर है, जाऊँ तो कैसे जाऊँ, शिष्टता का व्यवहार कौन-सा
होगा जिससे अपनी माता के प्रति अपन अभिप्राय को प्रकट करूँ?
इस तनाव को 'सांस्कृतिक-तनाव' (Cultural Tension) कह
सकते हैं क्योंकि यह 'सांस्कृतिक-प्रेरक' (Cultural Drive)
से उत्पन्न हुआ है।

(२) 'प्रेरक' (Drive) अथवा 'एषणा' (Need)
द्वारा भीतरी 'तनाव' (Tension) उत्पन्न हो जाने पर प्राणी
को जो बेचैनी हो जाती है उसे दूर करना आवश्यक है। यह बेचैनी
कैसे दूर हो? यह तभी दूर हो सकती है जब इच्छा पूर्ण हो।
इच्छा किसी वस्तु को प्राप्त करने की, या किसी दुःख देनेवाली
वस्तु से छूटने की हो सकती है। हो सकता है प्राणी जिस लक्ष्य को
इच्छा-पूर्ति द्वारा प्राप्त करना चाहता है उसमें कोई बात रुकावट
बन रही हो। इस रुकावट को दूर करना आवश्यक है। जब तक
यह रुकावट दूर न होगी तवतक इच्छा-पूर्ति न होगी, और
जबतक इच्छा-पूर्ति न होगी तवतक 'तनाव' (Tension) बना
रहेगा। 'प्रेरक' से 'इच्छा-पूर्ति' तक पहुँचने की यह दूसरी
मानसिक-प्रक्रिया है—इच्छित को प्राप्त करना और अनिच्छित
को दूर करने का प्रयत्न। उदाहरणार्थ, वालक को भूख लगी,
'तनाव' उत्पन्न हो गया, अव वह चें-चें करता फिरता है, कभी
माँ को तंग करता है, कभी वाप को। वालक का इस प्रकार

चें करना, माँ-बाप को तंग करना उसके भीतर भूख के कारण जो 'शारीरिक-तनाव' उत्पन्न हो गया था, उसे दूर करने का प्रयत्न है। दो बच्चे खेल रहे हैं, एक ने दूसरे का खिलौना छीन लिया। खिलौना छिनते ही इस बच्चे में 'मानसिक-तनाव' उत्पन्न हो गया। वह चीख़ने-चिल्लाने लगा। यह चीख़ना-चिल्लाना 'मानसिक-तनाव' को दूर करने का प्रयत्न है। यह ठीक है, सिर्फ़ चीख़ने से 'तनाव' नहीं दूर हो जायगा। चीख़ने से वह माँ-बाप का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा है, उन्हें बुला रहा है, आओ, मेरी मदद करो। अब बाप ने आकर कारण बिना देखे रोनेवाले बच्चे को ही दो ठोक दीं और कहा इतने ज़ोर से नहीं चिल्लाते, सभ्य तरीके से आकर अपनी शिकायत करो। अब बच्चा मुंह फुलाकर बैठ जाता है, किसीसे बोलता नहीं, वह गोखला बना बैठा है। यह 'सांस्कृतिक-तनाव' उत्पन्न हो गया, और उसका गोखला बनना माता-पिता को पुकारना है कि आओ और इस 'तनाव' को दूर करो, नहीं तो मैं बोलूंगा नहीं।

(३) 'प्रेरक' उत्पन्न हो जाने पर 'इच्छा की पूर्ति' तक पहुँचने की दो मानसिक-प्रक्रियाओं का हमने अध्ययन किया। तीसरी प्रक्रिया क्या है? मानसिक-प्रक्रिया का तीसरा रूप वह है जब इच्छित-वस्तु प्राप्त हो जाय, या अनिच्छित-वस्तु से छुटकारा मिल जाय। बच्चा लड्डू लेना चाहता है—बस, यह चाह ही 'तनाव' उत्पन्न कर देती है। अब वह कभी माँ की तरफ़ देखता है, कभी बाप की तरफ़—यह देखना 'तनाव' को दूर करने का प्रयत्न है। माँ बालक की बात समझ कर उसे

एक लड्डू पकड़ा देती है—बस, उसकी इच्छा पूर्ण हो गई, 'तनाव' दूर हो गया, बच्चा हँसता-खेलता अपने दूसरे किसी काम में लग जाता है। अब कल्पना कीजिये, बच्चे को आपने लड्डू नहीं दिया —इसलिए नहीं दिया कि मेहमान बैठे हुए हैं, जब चले जायंगे तब देंगे। बस, अब वह ऐसे प्रपंच रचने लगता है जिससे समझ-दार मेहमान समझ जाँय कि उन्हें चले जाना चाहिए। ये हरकतें भी 'तनाव' को दूर करने का प्रयत्न हैं। जब मेहमान चले जाते हैं, उसे लड्डू मिल जाता है, तब जाकर उसका 'तनाव' दूर होता है।

(४) इसके बाद मानसिक-प्रक्रिया का चौथा रूप आता है। जब 'तनाव' दूर हो जाता है तब एक प्रकार का सन्तोष होता है, आनन्द अनुभव होता है—ऐसा सन्तोष और आनन्द जो बेचैनी दूर होने से हुआ करता है। जब तक बच्चे को लड्डू नहीं मिला था वह बेहद्द परेशान था, बेचैन था, तरह-तरह की हरकतें कर रहा था। जब लड्डू मिल गया, उसकी इच्छा पूर्ण हो गई, वह हँसता-खेलता फिर रहा है, माँ-बाप की तरफ़ देखता भी नहीं। इस चौथी अवस्था में जब शारीरिक, मानसिक अथवा सांस्कृतिक, जिस प्रकार का भी तनाव था, जब वह दूर हो जाता है तब आत्म-सन्तोष की अवस्था आ जाती है।

'प्रेरक' के उत्पन्न हो जाने से लेकर 'इच्छा की पूर्ति' तक की जिस मानसिक-प्रक्रिया का हमने उल्लेख किया उसे 'क्रिया-चक्र' (Cycle of activity) कहा जाता है। प्रत्येक प्राणी का, पशु-पक्षी-मनुष्य—सब का 'क्रिया का चक्र' इसी रास्ते पर से गुज़रता है। पहले 'प्रेरक' उत्पन्न होता है, 'प्रेरक'

ही 'तनाव' को उत्पन्न कर देता है, 'तनाव' को दूर करने के लिए प्राणी भिन्न-भिन्न प्रयत्न करने लगता है, जब उसके प्रयत्न सफल हो जाते हैं तब 'तनाव' दूर हो जाता है, 'तनाव' के दूर होने से उससे उत्पन्न होनेवाली बेचैनी दूर हो जाती है, प्राणी सन्तोष की साँस लेता है। यह 'क्रिया-चक्र' पूरा होता है, तो फिर दूसरा 'क्रिया-चक्र' चल पड़ता है, और इस प्रकार एक 'क्रिया-चक्र' से दूसरे 'क्रिया-चक्र' तक प्राणी अपना जीवन बिता देता है। हर 'क्रिया-चक्र' में उक्त चार प्रकार की 'मनोवैज्ञानिक' प्रक्रिया होती है।

हमने देखा कि हमारी इच्छाएँ एकदम पूर्ण नहीं होतीं। उनमें कई प्रकार की रुकावटें पैदा होती हैं। कभी ये रुकावटें साधारण होती हैं, कभी असाधारण। इन रुकावटों को दूर किये बग़ैर काम नहीं चलता। जबतक ये बनी रहती हैं, तबतक 'तनाव' भी बना रहता है। 'तनाव' बना रहे, तो प्राणी की 'बेचैनी' बनी रहती है, वह अपने को स्वस्थ अनुभव नहीं करता। सब प्राणियों की इस प्रकार की रुकावटों का वर्णन करने में तो कई पोथे लिखे जायँ, हमें यहाँ सब प्राणियों की इस प्रकार की रुकावटों के वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। हम अगले अध्याय में मनुष्य की इसी प्रकार की इच्छा-पूर्ति में आ पड़ने वाली रुकावटों के सम्बन्ध में लिखेंगे जो उसके वैय्यक्तिक तथा सामाजिक व्यवहार को, अर्थात् उसके 'क्रिया-चक्र' को प्रभावित करती रहती हैं।

२

विफलता

(FRUSTRATION)

हमने पिछले अध्याय में देखा कि मनुष्य का 'क्रिया-चक्र' (Cycle of activity) किन्हीं 'रुकावटों' के कारण पूरा नहीं हो पाता। वे रुकावटें हमारे मन में एक 'तनाव' (Tension) पैदा किये रखती हैं, और हमें वचैन रखती हैं । मन स्वस्थ तभी होता है जब कार्य-सिद्धि प्राप्त करने के मार्ग की इन 'रुकावटों', इन 'वाधाओं' (Obstacles) पर वह विजय हासिल करे।

हमारे 'क्रिया-चक्र' को पूरा न होने देने में जो 'रुकावट' आकर खड़ी हो गई है, उसे देख कर हमारी स्वाभाविक मानसिक-प्रक्रिया क्या होती है ? हम गाड़ी को पकड़ने के लिए दौड़े चले जा रहे हैं, गाड़ी सीटी दे रही है, इस वीच एक आदमी हमें पकड़ कर पूछने लगता है—यह गाड़ी कहाँ जा रही है। गाड़ी कहीं निकल न जाय इसलिए गाड़ी पकड़ने की इच्छा से तो हम भागे जा रहे थे, यह भागना हमारे भीतर के 'तनाव' का सूचक था, जवतक हम गाड़ी पर वैठ नहीं जाते यह 'तनाव' दूर नहीं होता, इस बीच—'गाड़ी कहाँ जा रही है'—यह पूछने वाले ने हमारी 'कार्य-सिद्धि' में एक और रुकावट डाल दी। परिणाम यह होता है कि उसे कुछ उत्तर देने के स्थान में हम उसे एक तरफ़ धक्का

देकर और अधिक तेज़ भाग खड़े होते हैं। 'रुकावट' ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उसे दूर करने का प्रयत्न भी द्विगणित होता जाता है। इस दृष्टि से 'रुकावट' (Obstacle) की स्वाभाविक प्रतिक्रिया 'रुकावट' को जीतना है, और 'रुकावट' में वृद्धि होना, उस पर विजय प्राप्त करने की प्रतिक्रिया में 'प्रबलीकरण' (Reinforcement) है। परन्तु 'रुकावट' या 'बाधा' पर मनुष्य सदा ही तो विजय नहीं प्राप्त कर पाता। कभी 'बाधा' पर विजय प्राप्त कर लेता है, कभी नहीं। जब वह विजय प्राप्त नहीं कर पाता तब मन की जो अवस्था होती है उसे 'विफलता' (Frustration) कहते हैं।

१. 'विफलता' को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियां
(Conditions that Frustrate)

प्रश्न यह है कि कौन-सी ऐसी अवस्थाएँ हैं, कौन-सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें हमारे 'प्रेरकों' (Motives), हमारी 'इच्छाओं'-'एषणाओं'-'अभिलाषाओं' (Needs and Wants) को 'विफलता' या 'निराशा' (Frustration) का सामना करना पड़ता है? मुख्य तौर पर ऐसी अवस्थाएँ चार हैं :—

(१) **'वस्तु' द्वारा उत्पन्न बाधा** (Impersonal obstacle)—हमारे 'क्रिया-चक्र' को पूर्ण करने में पहली बाधा तो वह है जो किसी 'वस्तु' (Impersonal object) द्वारा उत्पन्न होती है। हम लिख रहे हैं, बिजली बुझ गई, अंधेरा हो गया। हम झुंझला उठते हैं, क्रोध करते हैं, ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, परेशानी और भीतरी 'तनाव' बढ़ता जाता है। बिजली के दफ्तर को टैलीफ़ोन करते हैं, कुछ नहीं बन पाता तो

लैम्प ढूंढ़ते हैं, यही कोशिश करते हैं कि जिस-किसी तरह हो सके इस 'बाधा' को दूर किया जाय। कभी-कभी काम इतना नीरस और थका देने वाला होता है कि रचनात्मक कार्य करने वाला व्यक्ति ऊब उठता है, नये काम ढूंढना चाहता है, और न मिलने से 'विफलता' (Frustration) अनुभव करता है। बेकारी के दिनों में देर तक बेरोज़गार रहने पर भी मनुष्य 'विफलता', 'निराशा' का सामना करता है। इन सब 'विफलताओं' में भीतरी 'तनाव' बढ़ा हुआ होता है, मनुष्य में बेचैनी होती है, और 'क्रिया-चक्र' पूरा नहीं हो रहा होता। जब 'विफलता' व्यक्ति की क्रिया-शक्ति में 'प्रबलता' (Reinforcement) उत्पन्न कर देती है, तब उस 'विफलता' का एक तरह से लाभ ही होता है, परन्तु कभी-कभी 'बाधा' इतनी प्रबल होती है कि व्यक्ति उसे दूर नहीं कर पाता और 'विफल' तथा 'निराश' ही रहता है।

(२) **'व्यक्ति' द्वारा उत्पन्न बाधा** (Personal obstacle)—'क्रिया-चक्र' के पूर्ण होने में दूसरी बाधा 'वस्तु' से न होकर किसी दूसरे 'व्यक्ति' से होती है। यह स्थिति पहली स्थिति से अधिक परेशानी पैदा करती है क्योंकि 'वस्तु' तो बेजान है, परन्तु 'व्यक्ति' जानदार है, और उससे तो सहानुभूति की आशा की जाती है। परन्तु 'व्यक्ति' क्यों 'बाधा' के रूप में आ टकराते हैं? इसलिए क्योंकि जैसे हमारे 'प्रेरक' (Drives) हैं, हमारी एषणाएँ-इच्छाएँ-अभिलाषाएँ (Needs-Wants) हैं, वैसे दूसरों की भी तो हैं। उनकी इच्छाओं और हमारी इच्छाओं में विरोध हो सकता है। हम किसी संगठन के मुखिया बनना चाहते हैं, तो दूसरे की भी वही इच्छा हो सकती है। ऐसी अवस्थाओं में

प्रतिद्वन्द्विता उठ खड़ी होती है, लड़ाई-झगड़े, गुटबाज़ी—यह सब-कुछ हुआ करता है। जैसे व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मार्ग में रुकावट बनकर खड़ा हो जाता है, वैसे एक देश दूसरे देश की बढ़ती देखकर उसमें रुकावट बन सकता है। इसीसे लड़ाइयाँ हुआ करती हैं। ऐसे समयों में व्यक्तियों को, देशों को लड़कर यह फ़ैसला करना पड़ता है कि कौन जीतेगा। जो देश लड़ते नहीं वे समझौते किया करते हैं।

(३) **एक ही व्यक्ति में दो या अनेक धनात्मक प्रबल-प्रेरकों का संघर्ष** (Conflict of positive drives in the same person)—कभी-कभी एक ही व्यक्ति में दो प्रबल भावनाएँ काम कर रही होती हैं, एक उसे एक तरफ़ ले जाती है, तो दूसरी उसे दूसरी तरफ़ धकेलती है। किसी माँ का बच्चा शिक्षा पाने विदेश जा रहा है। माँ की ममता उसे अपने पास से जाने नहीं देना चाहती, उसका पढ़कर लायक होना माँ को उसे विदेश भेजने में प्रेरित करता है। इस संघर्ष में उन दोनों 'प्रेरकों' में से किसी एक को उसे चुनना होता है। जिस 'प्रेरक' का मार्ग चुना गया उसका 'क्रिया-चक्र' पूर्ण हो गया, दूसरे का टूट गया। कभी-कभी बालक के सामने पढ़ाई में दिन-रात एक करना या प्रलोभनों में बह जाना—ये दो प्रबल-प्रेरक उठ खड़े होते हैं। पढ़ूँ या सिनेमा जाऊँ—इस संघर्ष को सामने देखकर बालक को दोनों में से एक रास्ता तो अपनाना ही होता है, एक 'प्रेरक' के 'क्रिया-चक्र' को पूर्ण करना तथा दूसरे 'प्रेरक' के 'क्रिया-चक्र' को समाप्त करना होता है, नहीं तो बालक डाँवाडोल रहता है। यह दो धनात्मक-प्रेरकों का संघर्ष है।

(४) **एक ही व्यक्ति में एक धनात्मक तथा एक ऋणात्मक प्रेरक का संघर्ष** (Conflict of a positive and a negative drive in the same person)—जब व्यक्ति में दो 'प्रेरक' हों, उनमें से एक अच्छा, आगे ले जाने वाला, अर्थात् धनात्मक 'प्रेरक' उसे आगे बढ़ने को कहे, परन्तु साथ ही कोई ऋणात्मक प्रेरक—सुस्ती, भय, दूसरों द्वारा आलोचना, अपनी शिथिलता आदि—उसे आगे न बढ़ने दे, तब भी 'क्रिया-चक्र' के पूर्ण होने में 'रुकावट' आ जाती है, और ऐसी अवस्था में व्यक्ति जहाँ-का-तहाँ खड़ा रहता है, जीवन के संग्राम में आगे नहीं बढ़ सकता। ऋणात्मक-प्रेरकों (Negative drives) के कुछ उदाहरण देकर यह विषय और अधिक स्पष्ट हो जायगा :

(क) **शैथिल्य, सुस्ती या थकान**—व्यक्ति अपनी अयोग्यता, शिथिलता के कारण सामने किसी धनात्मक कार्य के होते हुए भी उसे नहीं कर पाता। वह देखता है कि इस कार्य को कर सके तो जीवन में आगे बढ़ सकता है, परन्तु करे तो क्या करे, उसमें योग्यता ही नहीं। ऐसा व्यक्ति जीवन में विफलता, निराशा का सामना किये बैठा रहता है। कभी-कभी योग्य तो वह होता है, परन्तु सुस्त होने के कारण कुछ कर नहीं पाता। वह दूसरों से मिलता-जुलता नहीं, किसी सभा-समारोह में सम्मिलित नहीं होता, घर में ही पड़ा रहता है। अगर ऋणात्मक-प्रेरक निर्बल हो जाय, शैथिल्य, सुस्ती, थकान चली जाय, तो धनात्मक-प्रेरक प्रबल हो उठता है, और व्यक्ति अपने काम पूरे करने लगता है।

(ख) **भय**—कभी-कभी भय एक ऋणात्मक-प्रेरक के रूप

में सामने आ खड़ा होता है, और 'क्रिया-चक्र' को पूरा नहीं होने देता। बालक कोई शरारत करना चाहता है, यह एक धनात्मक-प्रेरक है। मार खाने का डर है, यह एक ऋणात्मक-प्रेरक है। मार खाने का डर प्रबल रहता है अतः वह शरारत नहीं करता। अगर मार खाने का डर कम हो जाय, तो बालक को शरारत करने से कौन रोक सकता है? भय के कारण चोर चोरी नहीं करते, बदमाश लोग बदमाशी करने से रुके रहते हैं। देशों के शासन में पुलिस का काम 'ऋणात्मक-प्रेरक'—भय—को प्रबल बनाये रखता है—'दंडः शास्ति प्रजाः सर्वाः दंड एवाभिरक्षति'—दंड के भय से ही प्रजा पर शासन होता है, दंड का भय ही समाज की बदमाशों से रक्षा करता है।

(ग) **आलोचना, आत्म-भर्त्सना आदि**—'भय' के स्थान में दूसरों द्वारा 'आलोचना' भी व्यक्ति को अपनी 'इच्छा-पूर्ति' करने में रुकावट का काम करती है। हम यह नहीं चाहते कि दूसरे हमें बुरा कहें। बुराई से हम इतना नहीं बचते जितना हम बुरा कहे जाने से बचते हैं। बद अच्छा, बदनाम बुरा। इसीलिए लोग छिप कर बुराई करते हैं, यह नहीं चाहते कि कोई उन्हें बुराई करते हुए देख ले। एक लोभी-लालची व्यापारी दुकान पर बैठा दिन-रात व्यापार में दूसरों की गाँठ काटता रहेगा, परन्तु गठकतरा कहलाना न चाहेगा। जिस व्यक्ति की अन्तरात्मा प्रबल है वह बुरी इच्छा को मन से निकाल बाहर करेगा, उसके मन में संघर्ष की अवस्था देर तक न होगी। अगर किसी में धनात्मक तथा ऋणात्मक इच्छाएँ दोनों प्रबल हैं, तो उनमें संघर्ष उत्पन्न हो जायगा—'करूँ, न करूँ, नहीं-नहीं करूँगा,

नहीं-नहीं हर्गिज़ नहीं करूँगा'—इस प्रकार का संघर्ष कुछ देर चलता रहेगा। अगर धनात्मक इच्छा प्रबल हो उठी, तो वह उस इच्छा को पूर्ण कर डालेगा, दूसरे की चीज़ चुरानी है, तो चुरा लेगा, अगर ऋणात्मक-भावना प्रबल हो गई, डर लगने लगा, तो नहीं चुरायेगा।

२. विफलता में व्यवहार (Behavior in Frustration)

इस प्रकार हमने देखा कि जीवन में जितने हमारे 'प्रेरक' (Drives, Motives) हैं, जितनी हमारी 'इच्छाएँ'-'अभिलाषाएँ'-'एषणाएँ' (Needs) हैं उनसे 'क्रिया-चक्र' (Cycle of activity) शुरू हो जाता है, उनके पूर्ण होने में वस्तु, व्यक्ति या किसी प्रकार के संघर्ष के रूप में बाधा उपस्थित होती रहती है, और व्यक्ति का लक्ष्य सदा इन बाधाओं को दूर कर लक्ष्य को प्राप्त करना, अर्थात् इच्छा को पूर्ण करना रहता है। घर में बालक की इच्छाओं को पूर्ण होने से रोका जाता है, माता-पिता कहते रहते हैं, हर जगह टट्टी मत फिरो, किसी निश्चित समय पर खाओ, पिओ, सोओ। बालक की इच्छा-पूर्ति में ये साधारण-सी रुकावटें हैं; कभी-कभी बालक की कई प्रबल इच्छाएँ होती हैं, उन्हें भी रोका जाता है। बड़े होने पर युवा व्यक्ति की भी हर इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती। हमने देखा कि कौन-सी ऐसी अवस्थाएँ हैं, कौन-सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें हमारे 'प्रेरकों' (Drives, Motives), हमारी 'इच्छाओं'-'अभिलाषाओं'-'एषणाओं' (Needs, Wants) को 'विफलता'-'निराशा' (Frustration) का सामना करना पड़ता है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि मन की 'विफल' अथवा

'निराश' अवस्था में व्यक्ति के भीतर क्या मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होती है, उसके व्यवहार में क्या परिवर्तन आ जाता है ? जब व्यक्ति को 'विफलता'-'निराशा' (Frustration) का सामना करना पड़ता है तब क्या होता है ? अगर तो उसने अपने सामने की समस्या का हल कर लिया, तब तो 'क्रिया-चक्र' पूरा हो गया, 'तनाव' हट गया, समस्या ही न रही, परन्तु जब व्यक्ति से अपनी समस्या हल नहीं हो पाती, तब वह उस समस्या को तो भूल जाता है, परन्तु उसका व्यवहार बदल जाता है, मानो उस समस्या को भूलकर ही वह समस्या को हल करना चाहता है । ऐसी अवस्था में व्यक्ति के व्यवहार में जो परिवर्तन आ जाता है उसके मनोवैज्ञानिकों ने तीन रूप बताये हैं :—

(१) **अविचारपूर्ण-प्रतिक्रियाएँ** (Unthinking reactions)—जब भी व्यक्ति अपने मनोरथ में, अपनी इच्छा को पूर्ण करने में, अपने 'प्रेरक' को 'लक्ष्य' तक पहुँचाने में, अपने 'क्रिया-चक्र' को अन्त तक ले जाने में असमर्थ होता है तब 'विफलता'-'निराशा' (Frustration) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि इस 'विफलता' (Frustration) का स्वाभाविक परिणाम 'आक्रमण' (Aggression) है । मिलर तथा डोलॉर्ड ने 'विफलता तथा आक्रमण' (Frustration and Aggression) पर एक ग्रन्थ लिखा है । यहाँ 'आक्रमण' (Aggression) का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति क्रोध से दूसरे पर हमला कर दे। हम एक काम कर रहे हैं, उसमें सफलता नहीं मिलती। सफलता न मिलना ही 'विफलता' (Frustration) है। इस 'विफलता'

का परिणाम यह होगा कि हम काम और ज़ोर से करेंगे, असफलता को दूर करने का प्रयत्न करेंगे, प्रयत्न के 'प्रवलीकरण' (Re-inforcement) से असफलता पर विजय पाना चाहेंगे। इस प्रकार अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिए अपनी सारी शक्ति को लगा देना, सिर से एड़ी तक का ज़ोर लेकर आगे बढ़ना मानो सामने की समस्या पर 'आक्रमण' (Aggression) करना है। इस 'आक्रमण' में क्रोध भी हो सकता है, प्रायः क्रोध ही होता है, झुंझलाहट ही होती है, परन्तु यह ज़रूरी नहीं कि क्रोध और झुंझलाहट ही हो। ध्यान रखने की मुख्य बात यह है कि इसमें कार्य-शक्ति का वेग बहुत बढ़ा हुआ होता है, इसीको यहाँ 'आक्रमण' कहा गया है। बाधा के उपस्थित होने पर उसे दूर करने के लिए हमारी कार्य-शक्ति में जो यह 'वेग', यह 'आक्रमण' की भावना उत्पन्न हो जाती है, उसके कई रूप हो सकते हैं। ये सब रूप ऐसे हैं जिन्हें हमने इस शीर्षक में 'अविचार-पूर्ण प्रतिक्रियाएँ (Unthinking reactions) कहा है। ये 'अविचार-पूर्ण प्रतिक्रियाएँ' पाँच प्रकार की हो सकती हैं—(क) 'क्रोधपूर्ण-आक्रमण' (Angry aggression), (ख) 'निस्सहायता' (Helplessness), (ग) 'अवसर्पण' (Regres-sion), (घ) 'स्थिरीकरण', (Fixation) तथा (ङ) 'दमन' (Repression)। आगे बढ़ने से पहले इन चारों पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

(क) क्रोधपूर्ण-आक्रमण (Angry aggression)—इच्छा के पूर्ण न होने पर जो 'विफलता' होती है, उसकी एक प्रतिक्रिया तो क्रोध और झुंझलाहट के रूप में दिखाई देती है।

क्रोध बढ़ जाय तो बालक दूसरे को मारने-पीटने लगता है। माता-पिता भी जब किसी काम से रोकते हैं तब बच्चा उन्हें अपने नन्हें-से हाथों से मारता है। अगर दूसरा भी उसे थपड़िया दे तब तो उसकी 'विफलता' की मात्रा और बढ़ जाती है और देर तक बनी रहती है। इस परिस्थिति में बालक भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करते हैं। गुस्सा हो जाते हैं, बोलते नहीं, गोखला बन जाते हैं। वयस्क लोगों का व्यवहार भी 'विफलता' से क्रोध में बदल जाया करता है, मार-पीट हो जाती है।

(ख) **निस्सहायता** (Helplessness)—'विफलता' के फल-स्वरूप बच्चा क्रोध या आक्रमण करे—यह तो 'विफलता' की एक प्रतिक्रिया है। दूसरी प्रतिक्रिया यह भी हो सकती है कि वह अपनी निस्सहाय अवस्था को देखकर रोने-धोने लगे, इस पर डाँटा-धमकाया जाय, तो सुबकने लगे। उस समय परिस्थिति की बाधा ने उसके भीतर 'तनाव' उत्पन्न कर दिया होता है, और उसका 'क्रिया-चक्र' पूरा नहीं हो रहा होता। उस समय अपनी निस्सहाय अवस्था देखकर वह भीतर-ही-भीतर परेशान हो रहा होता है। प्रौढ़ व्यक्तियों को भी जब अपनी निस्सहाय अवस्था दीखती है तब वे परिस्थिति का मुकाबिला करने के स्थान में उससे भागने का प्रयत्न करते हैं। कई बालक घर छोड़ जाते हैं। यह सब क्या है? यह सब इसलिए होता है क्योंकि बालक के भीतर 'प्रेरक' (Drives) तो हैं, परन्तु उन्हें वह अपनी निस्सहाय अवस्था के कारण 'लक्ष्य' (Goal) तक नहीं पहुँचा पाता। यह नियम है कि जबतक 'प्रेरक' अपने 'लक्ष्य' तक नहीं पहुँचता तबतक 'तनाव' बना रहता है। अगर वह 'लक्ष्य' तक पहुँचकर

इस 'तनाव' को दूर नहीं कर सकता, तो लक्ष्य के सामने से ही हट जाता है और इस प्रकार 'विफलता' से मानो बचना चाहता है।

(ग) अवसर्पण (Regression)—'विफल' होने पर तीसरी प्रक्रिया यह भी हो सकती है कि बालक अपनी आयु के अनुसार काम करने के स्थान में अपनी छोटी आय के बालक के समान कार्य करने लगे, १० वर्ष का बच्चा ६ वर्ष के बालक का-सा व्यवहार करने लगे। तभी तो बड़े बालक भी छोटे बच्चों की तरह अंगूठा चूसने लगते हैं, बच्चों की तरह तुतलाते और बच्चों की तरह बिस्तर में पेशाब कर देते हैं। यह किसी 'विफलता' के कारण बचपन की तरफ़ चले जाना है। जो प्रौढ़ व्यक्ति बच्चों का-सा व्यवहार करते हैं उनके इस प्रकार के व्यवहार के आधार में कोई 'विफलता' हो सकती है।

(घ) स्थिरीकरण (Fixation)—कभी-कभी 'विफल' होने पर बालक एक ही तरह का व्यवहार बार-बार करने लगता है, मानो उसका व्यवहार यंत्रवत् हो रहा हो, सोच-समझकर नहीं। अगर वह हिसाब में कमज़ोर है, उसे ठीक समझ नहीं पाता, तो जैसी ग़लती करता है, हर बार वैसी ही ग़लती करता चला जाता है। दो और दो को चार के स्थान पर पाँच कह गया, तो बार-बार पाँच ही कहता जायगा। इसका कारण यह है कि 'विफलता' की स्थिति में प्राणी जो प्रतिक्रियाएँ करता है, वे सीखी हुई प्रतिक्रियाएँ नहीं होतीं; 'विफल' परिस्थिति के प्रति व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जैसी वे एक बार हो गईं, हो गईं, उन्हींको वह दोहराता चला जाता है।

(ङ) दमन (Repression)—इच्छा के पूर्ण न होने का

पाँचवाँ परिणाम यह भी हो सकता है कि व्यक्ति उस इच्छा का ही दमन कर दे, उसे दबा दे। मनोविश्लेषणवादी कहते हैं कि यह दबी हुई इच्छा अज्ञात-चेतना में जाकर छिप जाती है, वहाँ खलबली मचाती रहती है, और व्यक्ति के व्यवहार में कुछ-न-कुछ अजनबीपना बनाये रखती है। इन दबी हुई इच्छाओं के कारण कोई नख कुतरने लगता है, कोई टाँग हिलाने लगता है, कोई सिर एक तरफ़ मारने लगता है, कोई कुछ और कोई कुछ करने लगता है। अजीब-सा व्यवहार दबी हुई इच्छा का ही प्रकट रूप है।

(२) **दोष को स्थानान्तरित करना** (Placing the blame)—हमने देखा कि 'विफलता' (Frustration) की अवस्था में प्राणी के व्यवहार में जो परिवर्तन आ जाता है, उसका एक रूप 'अविचारपूर्ण-प्रतिक्रियाएँ' है। इन 'प्रतिक्रिया-ओं' के पाँच रूपों का हमने वर्णन किया। इन 'अविचारपूर्ण-प्रतिक्रियाओं' के अतिरिक्त 'विफलता' की अवस्था में एक रूप यह भी हो सकता है कि प्राणी 'विफलता' को स्थानान्तरित करने का प्रयत्न करे, अर्थात् अपने को छोड़कर किसी अन्य को अपनी असफलता का कारण कहने लगे। इस मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया का यही अर्थ होता है कि व्यक्ति मानो अपने को समझा रहा होता है कि असफल हुआ तो क्या, मैं वास्तव में असफल नहीं हुआ, 'विफलता' से जो अवश्यंभावी असंतोष, बेचैनी और 'तनाव' होता है उसे मानो वह दूर करने का प्रयत्न कर रहा होता है। उदाहरणार्थ, वह कहता है कि मैं क्या करूँ, मेरी अनुभवहीनता के कारण असफलता हुई, अर्थात् मुझे दोष नहीं, मेरी 'अनुभव-हीनता' इस असफलता का कारण है। कभी-कभी असफल

व्यक्ति कह देता है कि यह काम तो बुरा नहीं था, परन्तु मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं था। यहाँ भी अपने को वचाने के लिए अपनी 'प्रकृति' पर वह दोष आरोपित करने लगता है। यह भी हो सकता है कि जैसे लोमड़ी अंगूरों तक न पहुँच सकने के कारण अंगूरों को ही खट्टा वताये, वैसे सफलता न प्राप्त कर सकने के कारण व्यक्ति काम को ही बुरा कहने लगे। हम अक्सर अपनी बुराई न मानकर दूसरों को बुरा कहा करते हैं। कालिदास के शाकुन्तल नाटक में दुष्यन्त ने शकुन्तला को फुसलाया था, परन्तु जव शकुन्तला उसके पास आयी और रानी बनाने को कहा, तो दुष्यन्त अपना अपराध स्वीकार करने के स्थान में उसीको दुराचारिणी कहने लगा। मुन्ना प्राय: माता-पिता के सामने मुन्नीको अपनी शिकायत करते सुनकर मुन्नी की वैसी ही शिकायत करने लगता है। इस प्रकार बच्चे-वड़े सब अपने-अपने दोषों को स्थानान्तरित किया करते हैं। मनोविज्ञान में इस प्रक्रिया को 'अभिक्षेप' (Projection) कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक देश दूसरे देश के चारों तरफ़ घेरा डालने का प्रयत्न तो स्वयं कर रहा होता है, परन्तु कहता यही रहता है कि क्योंकि दूसरा देश हमारे चारों तरफ़ घेरा डाल रहा है इसलिए हमें वरवस उसका प्रतिकार करना पड़ रहा है। दोप अपना और कोसना दूसरे को—यह प्रक्रिया सर्वत्र पायी जाती है, इसका यही कारण है कि व्यक्ति को अपना दोष स्वीकार करते हुए जो 'विफलता' दीखती है उससे वह बचना चाहता है। तभी तो कई लोग 'कर्मों' के और कई 'ईश्वर' के सिर हर असफलता को मढ़ देते हैं—कर्मों का दोष है, ईश्वर का दोष है, उनका कुछ दोष नहीं।

(३) **स्थानापन्न लक्ष्य ढूँढना** (Finding a substitute)—'विफलता' की प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्ति जितने भी व्यवहार करता है उनमें दो का वर्णन हमने ऊपर किया, तीसरा व्यवहार यह हो सकता है कि जिस लक्ष्य को पाने में वह विफल रहा है उसे तो वह छोड़ दे, परन्तु उसके स्थान में किसी अन्य लक्ष्य को ढूंढकर उसमें आशातीत सफलता प्राप्त करके दिखाये। एक व्यक्ति पार्लियामेंट का सदस्य नहीं बन सका, वह साहित्य के क्षेत्र में उतर पड़ता है, और लोग उसकी सफलता को देखकर आश्चर्य करने लगते हैं; दूसरा व्यक्ति साहित्य के क्षेत्र में असफल रहा, वह व्यापार में जा पहुँचता है, इतना रुपया कमाता है कि उसे स्वयं अचंभा होता है। व्यक्ति तो 'विफलता' से बचना चाहता है, एक 'प्रेरक' (Drive) उसके अभीष्ट 'लक्ष्य' (Goal) तक उसे नहीं पहुँचा सकता, तो वह किसी दूसरे 'प्रेरक' से दूसरा 'लक्ष्य' ढूंढ निकालता है, और इसमें उसका 'क्रिया-चक्र' अपनी पूरी परिधि पर घूम जाता है, वह सफल हो जाता है। 'स्थानापन्नता' (Substitution) में तीन बातों की तरफ़ ध्यान देना आवश्यक है :—

(क) **उदात्तीकरण** (Sublimation)—मनोविश्लेषणवादियों का कहना है कि मनुष्य की कई वासनाएँ ऐसी हैं जो दब तो नहीं सकतीं, परन्तु उनका रूप परिष्कृत किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, काम-वासना सब में है, समाज इसे दबाना चाहता है, परन्तु दबाने से यह दबती नहीं, दूसरे रूपों में निकल आती है। इस वासना को निकलने के लिए ऐसा रूप देना जिस रूप को समाज सहन कर सकता है, 'उदात्तीकरण' (Sub-

limation) कहाता है। एक लड़का एक लड़की से प्रेम करता है। उन दोनों का इस प्रकार निर्बाध मिलना-जुलना माता-पिता सहन नहीं करते, वे उनके मार्ग में बाधा पहुँचाते हैं। इस 'विफलता' की प्रतिक्रिया कभी-कभी यह होती है कि वह लड़का दर्द-भरे गीत लिखने लगता है, कवि बन जाता है। निराश-प्रेमी आसानी से कवि बन जाया करते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हरेक कवि निराश-प्रेमी ही होता है। स्वतंत्ररूप में भी व्यक्ति कवि बन सकता है, हमने तो यहाँ 'विफलता' की एक प्रतिक्रिया का वर्णन किया जिसमें अपने मार्ग में बाधा देखकर लड़की को पाने की जगह व्यक्ति लड़की के स्थान में कविता को लक्ष्य बना लेता है, एक तरह से एक लक्ष्य के स्थान में दूसरा 'उदात्त'-'ऊंचा' लक्ष्य ढूंढ कर अगर पहले में असफल रहा है, तो उससे मिलते-जुलते दूसरे में सफल होने का प्रयत्न करता है।

(ख) **क्षतिपूर्ति** (Compensation)—जब व्यक्ति अपने एक 'प्रेरक' (Drive) से अभीष्ट-'लक्ष्य' (Goal) को नहीं पा सकता, तब उसे 'विफलता' (Frustration) मिलती है। इस पर विजय पाने के लिए वह अपना लक्ष्य बदल देता है—यह हमने देखा। इस प्रकार लक्ष्य बदल देने से, स्थानापन्न लक्ष्य ढूंढ लेने से व्यक्ति एक प्रकार की सअफलता से पलायन करके दूसरे कार्य में सफलता करके दिखाता है जिससे पहले कार्य में असफलता के कारण जो क्षति हुई थी उसकी पूर्ति हो जाय। 'हीनता की भावना-ग्रन्थि' (Inferiority complex) से प्रायः हर व्यक्ति में एक 'विफलता' (Frustration) की गाँठ बँधी रहती है जिसकी पूर्ति के लिए सब हाथ-पैर मारा करते हैं।

परिणाम यह होता है कि जो व्यक्ति एक तरफ़ दब गया है, वह दूसरी तरफ़ वेग से चल निकलता है। बायरन लंगड़ा था, वह अच्छा तैराक बन गया, मिल्टन अन्धा था, वह उच्च-कोटि का कवि बन गया, रूज़वेल्ट बचपन में बहुत कमज़ोर था, वह नामी घुड़सवार बन गया, अमरीका का राष्ट्रपति बन गया। इसका यह अभिप्राय नहीं कि तैराक होने के लिए लंगड़ा होना ज़रूरी है, या कवि बनने के लिए अन्धा होना ज़रूरी है। हमारे कथन का यही अभिप्राय है कि जब व्यक्ति अपने एक लक्ष्य को पाने में असफल हो जाता है, तब अन्दर के 'प्रेरक' ही किसी दूसरी दिशा की खोज करने लगते हैं, उन्हें तो किसी लक्ष्य की तरफ़ जाना है, अपने को दबाये रखने के स्थान में पूरा होने की ओर दौड़ना है, इसीके परिणाम-स्वरूप एक लक्ष्य में सफलता नहीं मिलती, तो दूसरा लक्ष्य ढूंढ लिया जाता है, और पहले को न पा सकने में जो क्षति हुई थी दूसरे को पा लेने में वह क्षति पूर्ण हो जाती है। कभी-कभी बालक ऐसे भी क्षतिपूर्ति के मार्ग निकाल लेते हैं जो उचित नहीं होते। उन्हें पढ़ाई-लिखाई में सफलता नहीं मिलती, तो शरारतों में सफलता मिलती देखकर शरारती हो जाते हैं, चोर-उचक्के भी इसी तरह बनते हैं। व्यक्ति को तो सफलता चाहिए, जिस किसी रास्ते से सही। गठकतरे भी तो इसी तरह बन जाते हैं। पढ़ने में सफ़ाई नहीं, तो हाथ की सफ़ाई ही सही—सफलता तो उसमें भी है।

(ग) कल्पना-सृष्टि या दिवास्वप्न देखना (Fantasy or Day-dreaming)—जब व्यक्ति किसी स्थानापन्न लक्ष्य को भी नहीं ढूंढ सकता तब वह कल्पना की सृष्टि में विचरने

लगता है, दिन को बैठा-बैठा ख्याली पुलाव पकाया करता है। क्रियात्मक-जगत् में 'विफलता' का सामना देख कर वह इस जगत् से हट कर विचार-जगत् में जा पहुँचता है। बहुधा व्यक्ति उपन्यास क्यों पढ़ते हैं, नाटक-सिनेमा क्यों देखते हैं ? उपन्यासों में और सिनेमाओं में उन्हें जो नायक-नायिका दीखते हैं उनसे वे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, उन्हें ऐसे लगने लगता है जैसे वे स्वयं ही नायक-नायिका हों, और उनकी सफलता के साथ अपनी सफलता समझने लगते हैं। 'दु:खान्त नाटक' (Tragedy) क्या है ? यह नाटक के पात्रों की 'विफलता' (Frustration) का मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि में साहित्यिक चित्रण है। जो व्यक्ति क्रियात्मक-जगत् में 'विफल' रहा है, वह काल्पनिक-जगत् में विचरने लगता है—चाहे काल्पनिक-साहित्य को पढ़े, चाहे काल्पनिक चित्रों को देखे, चाहे बैठा-बैठा शेख़चिल्ली की तरह उधेड़-बुन करता रहे। जीवन में जो व्यक्ति सफल होते हैं, वे न तो अधिक उपन्यास ही पढ़ते हैं, न अधिक सिनेमा देखते हैं, न ख़ाली बैठे-बैठे अधिक काल्पनिक बातें सोचा करते हैं।

कभी-कभी 'विफलता' (Frustration) कोई भयंकर रूप धारण कर लेती है, व्यक्ति को 'विफलता' के कारण किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक रोग हो जाता है। किसी को पेट की बीमारी, किसी को पागलपन। इस दृष्टि से मनोविज्ञान के कई पंडित रोगियों की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करते हैं और उस चिकित्सा से रोगी अच्छे होते देखे गये हैं।

हमने पहले अध्याय में 'मानवीय-प्रेरकों' (Human drives) का अध्ययन किया था, इस अध्याय में हमने देखा

कि इन 'प्रेरकों' के अपने 'लक्ष्य' तक पहुँचने में क्या-क्या बाधाएँ आ पड़ती हैं, और उन बाधाओं के परिणाम-स्वरूप व्यक्ति के व्यवहार में क्या परिवर्तन आ जाता है। अगले अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि 'मानवीय-प्रेरकों' को क्रियान्वित करने के लिए व्यक्ति ने 'परिवार' का जो संगठन बनाया है उसका क्या रूप है ?

३

मानवीय-एषणाओं की पूर्ति का साधन 'परिवार'

(FAMILY AS SATISFYING HUMAN NEEDS)

हमने देखा कि प्राणी के व्यवहार के 'प्रारंभिक' या 'आधारभूत प्रेरक' (Basic drives) क्या हैं, हमने यह भी देखा कि इन 'प्रारंभिक' या 'आधारभूत-प्रेरकों' से, व्यक्ति के समाज के सम्पर्क में आने पर, अनेक 'द्वितीय श्रेणी के प्रेरक' (Secondary drives) उत्पन्न हो जाते हैं। भूख-प्यास 'प्रारंभिक-प्रेरक' हैं, भूख-प्यास को मिटाने के लिए समूह का आश्रय लेना—अर्थात् 'सामूहिकता'—यह 'द्वितीय-प्रेरक' है। इसी तरह अन्य अनेक प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के 'प्रेरक' होते हैं। 'प्रेरकों' (Drives) का काम प्राणी में 'क्रिया-चक्र' (Cycle of activity) को शुरू कर देना है, 'प्रेरक' व्यक्ति को किसी 'एषणा'-'इच्छा', किसी 'लक्ष्य' की पूर्ति की तरफ़ धकेलता है। जबतक वह 'एषणा', वह 'इच्छा', वह 'लक्ष्य' पूर्ण नहीं होता तबतक व्यक्ति में 'तनाव' (Tension) बना रहता है; जब 'इच्छा' की पूर्ति हो जाती है, व्यक्ति अपने 'लक्ष्य' तक पहुँच जाता है, तब 'तनाव' हट जाता है। इस सारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अभिप्राय यह है कि 'एषणाओं' का होना उनकी 'पूर्ति' के लिए है। और, अगर यह बात ठीक है, तो प्रश्न होता है कि प्राणी में जो एषणाएँ, जो इच्छाएँ हैं उनकी पूर्ति का उसने क्या उपाय निकाला है?

हरेक 'इच्छा' को व्यक्ति अपने-आप पूर्ण नहीं कर सकता। भूख-प्यास को शान्त करने की सबकी इच्छा है, परन्तु इकले रहने से क्या यह इच्छा पूर्ण हो सकती है? बच्चा माँ-बाप की सहायता के बिना कहाँ से दूध पायेगा? बाप भी मेहनत से भोजन का सामान इकट्ठा करेगा, तो थका-मांदा उसे कब और कैसे पकायेगा? माँ भी तो तभी भोजन तय्यार करेगी जब कोई सामान लाकर देगा। ख़ुद लाना, ख़ुद पकाना—यह तभी हो सकता है जब लाना एक आसान काम हो। भोजन प्राप्त करने में बड़ी कश्मकश करनी पड़ती है। भोजन प्राप्त करनेवाले एक नहीं, अनेक व्यक्ति हैं। उनमें होड़ हो सकती है—मैं लूँगा, मैं लूँगा की स्पर्धा हो सकती है। इस होड़ में, या दूसरों से लड़ाई मोल ली जाय, या उनसे समझौता किया जाय, तभी व्यक्ति की उसकी भोजन प्राप्त करने जैसी 'आधार-भूत'-इच्छा पूर्ण हो सकती है। इसी प्रकार अन्य आधार-भूत इच्छाओं का हाल है। हमारी सब इच्छाएँ सामूहिक-संगठन से पूरी हो सकती हैं, इकले-इकले से नहीं। इच्छा-पूर्ति को सरल बनाने के लिए ही सम्पूर्ण सामाजिक संगठनों का व्यक्ति ने निर्माण किया है। जात-बिरादरी, सभा-सोसाइटी, देश-राष्ट्र आदि अनेक सामाजिक-संगठन हैं। सब का उद्देश्य व्यक्ति की किसी-न-किसी इच्छा को पूर्ण करना है। इच्छा-पूर्ति के लिए बनाये गये सब संगठनों की तरह मानव-समाज का सबसे आदि का, प्रारंभ का संगठन, वह संगठन जो सभी संगठनों की इकाई है—'परिवार' है।

१. शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक एषणाओं की पूर्ति का साधन 'परिवार' है

'परिवार' का अर्थ क्या है? 'परिवार' का अर्थ है—'नर', 'मादा' तथा 'सन्तान' का देर तक या स्थिर रूप से रहने वाला सम्बन्ध। 'देर तक' हम इसलिए कहते हैं क्योंकि हो सकता है कि वह सम्बन्ध स्थिर रूप से न रहे, बीच में टूट जाय, परन्तु बीच में टूट जाने पर भी अगर वह देर तक रहा है, तो वह 'परिवार' का ही रूप है। जहाँ प्राणियों में नर तथा मादा का सिर्फ़ यौन-संबंध होता है, इससे आगे वह संवंध जारी नहीं रहता, वहाँ 'परिवार' की सत्ता नहीं कही जा सकती। प्राणियों में ऐसे प्राणी जिनकी रीढ़ की हड्डी नहीं होती, जिन्हें 'अपृष्ठ-वंशीय' (Invertebrates) कहा जाता है, उनमें मछली, गिडोये आदि गिने जाते हैं। इनमें 'परिवार' की सत्ता नहीं, परन्तु इनके अतिरिक्त निम्न-स्तर के अन्य अनेक प्राणी यौन-सम्वन्ध के वाद तबतक साथ-साथ रहते हैं जवतक सन्तान उत्पन्न नहीं हो जाती। कछुए आदि में सन्तान हो जाने के वाद उसकी देख-रेख करने की भावना भी पायी जाती है। 'यौन-सम्वन्ध' हो जाना ही 'परिवार' को नहीं उत्पन्न करता, 'परिवार' तो तव उत्पन्न होता है जव 'यौन-सम्वन्ध' के वाद भी नर तथा मादा साथ-साथ वने रहते हैं, और तवतक साथ वने रहते हैं जवतक सन्तान उत्पन्न नहीं हो जाती। सन्तान उत्पन्न होने के वाद वे उसकी देख-रेख करते, उसकी परवरिश करते, उसको खाने को देते, उसकी भय से रक्षा करते और जहाँतक हो सके उसे समर्थ वना देते हैं। 'यौन-प्रवृत्ति' (Sex instinct) और

'पितृ-भावना' (Parental instinct) अलग-अलग हैं। यह हो सकता है कि एक प्राणी में 'यौन-प्रवृत्ति' हो, और 'पितृ-भावना' न हो। 'परिवार' बनने के लिए 'यौन-प्रवृत्ति' ही काफ़ी नहीं है, 'पितृ-भावना' का होना भी ज़रूरी है। 'यौन-प्रवृत्ति' से नर तथा मादा देर तक या स्थिर रूप में साथ-साथ नहीं बने रहते, वह तो उनका सामयिक मिलन होता है, 'पितृ-भावना' से वे देर तक या स्थिर रूप में साथ-साथ बने रहते हैं। वैसे तो 'पितृ-भावना' (Parental instinct) को 'शारीरिक-इच्छा' कहने के स्थान में 'मनोवैज्ञानिक-इच्छा' कहना अधिक उपयुक्त दीखता है, परन्तु क्योंकि 'पितृ-भावना' में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने को सन्तान और सन्तान की सन्तान में निरन्तर बनाये रखने की भावना काम कर रही होती है इसलिए इसे 'शारीरिक-इच्छा' कहना अनुपयुक्त नहीं है—यह एक तरह से अपने शरीर को सन्तान के शरीर में स्थिर बनाने की इच्छा है। ज्यों-ज्यों प्राणी विकास की सीढ़ी में ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों 'परिवार' का यह रूप भी विकसित होता जाता है। पक्षियों में जब तक बच्चे उड़ने लायक नहीं हो जाते तबतक वे माता-पिता की संरक्षा में रहते हैं, उड़ने लायक हो जाने पर सब अपना-अपना रास्ता नापने लगते हैं। बन्दरों, चिपाँझी, ओरंग टाँग में 'परिवार' कुछ अधिक स्थिर रूप धारण कर गया है। उनके बच्चे देर तक उनके साथ रहते हैं। मनुष्य में तो माँ-बाप और सन्तान का साथ बहुत देर तक रहने वाला होता है। इस प्रकार हमने देखा कि 'परिवार' में प्राणी की निम्न चार आधार-भूत-एषणाओं की पूर्ति होती है :—

(१) 'यौन-प्रवृत्ति' (Sex instinct),

(२) 'पितृ-भावना' (Parental instinct),

(३) 'भोजनान्वेषण' (Food-seeking instinct or sustenance),

(४) 'सुरक्षा' (Protection, Security).

अभी जिन चार 'एषणाओं' का हमने वर्णन किया, वे 'शारीरिक-एषणाएँ' (Physiological needs) हैं। व्यक्ति की इन 'शारीरिक-एषणाओं' की 'परिवार' द्वारा पूर्ति होती है। परन्तु व्यक्ति में केवल 'शारीरिक-एषणाएँ' ही तो नहीं हैं, उसमें अनेक 'मनोवैज्ञानिक-एषणाएँ' (Psychological needs) भी हैं। जो गाय हाल ही की ब्याही हो उसके पास कुछ देर खड़े होकर देखिये। कैसे लगातार बच्चे को चाटती है। बच्चे के पास कोई चला तो जाय, सींग उठाकर हमला करती है। बच्चे के लगे बिना मालिक को दूध नहीं देती, देती भी है तो बच्चे के लिए ज़रूर चुरा कर रख लेती है। जानवर की तरह मानवीय-प्रकृति में भी बच्चे के प्रति यह प्रेम-भावना पायी जाती है। कोई प्राणी नहीं जिसकी सन्तान हो, और वह उसे प्यार-मोहब्बत न करता हो। सच्चा प्रेम तो वह है जो बदले में कुछ नहीं चाहता। पशुओं में यही पाया जाता है। चिड़िया यह नहीं आशा करती कि जब बच्चा बड़ा होगा, और वह बुढ़िया हो जायगी, तो उसकी सन्तान उसका पालन-पोषण करेगी। प्रतीकार की भावना के बिना ही प्रेम का दान हुआ करता है। जैसे माता-पिता सन्तान से प्रेम करते हैं वैसे सन्तान भी माता-पिता से प्रेम करती है। प्रेम की यह नैसर्गिक-प्रवृत्ति सर्वत्र

पायी जाती है, और इसका अखंड-प्रकाश 'परिवार' में ही मिलता है। 'प्रेम' की तरह एक दूसरी नैसर्गिक प्रवृत्ति है-- 'सहानुभूति' । हरेक निस्सहाय प्राणी दूसरे की तरफ़ टक-टकी बाँधकर देखता है और उससे आशा करता है कि वह उसके साथ समवेदना प्रकट करेगा और उसका दुःख-दर्द दूर करने में उसका सहायक होगा। बच्चे को कष्ट होता है, तो माँ का आँचल पकड़कर अपने आँसुओं से उसे तर कर देता है। बच्चे क्या, बड़े-बूढ़ों का भी यही हाल है। कष्ट में दूसरे की तरफ़ देखना—यह एक आधार-भूत मनोवैज्ञानिक चाह है, और 'परिवार' इसकी पूर्ति का माना हुआ, युग-युगान्तर से परखा हुआ स्थान है। जब पति दफ्तर के धक्के खाकर मुंह लटकाये घर लौटता है, सब तरफ़ निराशा-ही-निराशा उसे दीखती है, उस समय उसकी पत्नी ही उसके मानसिक घावों पर सहानुभूति की मरहम लगा सकती है, और यह 'परिवार' में ही संभव है। इन दोनों मनोवैज्ञानिक-एषणाओं के अतिरिक्त एक तीसरी एषणा है जो प्रत्येक मानवीय-शिशु को तब तक चुभोती रहती है जब तक वह पूर्ण नहीं हो जाती। बच्चा हर समय मानो पूछ रहा होता है—तुम मुझे कुछ समझते भी हो, या नहीं? उसके हर व्यवहार से यह टपका करता है कि वह अपनी स्थिति के विषय में बड़ा सतर्क है। अगर बच्चे को पता चले कि माता-पिता उसे कुछ गिनते ही नहीं, तो वह ऐसे परपंच रचता है कि, चाहे-न-चाहे, माता-पिता को उसे एक बड़ा आदमी मानना ही पड़ता है। उसकी तरफ़ माता-पिता का पूरा-पूरा ध्यान जाना चाहिए, न जायगा तो वह आस्मान सिर पर उठा लेगा, रोयेगा,

चिल्लायेगा, और जब तक वह कबूल न करा लेगा कि हाँ भाई, हो तुम भी कुछ, तब तक न वह दम लेगा, न लेने देगा। समाज में मेरी कुछ भी स्थिति नहीं है—यह भावना बच्चे को ही नहीं, बड़े को भी व्याकुल करती है, इसलिए मनुष्य की हर सन्तान अपनी 'स्थिति' (Status) को पाने के लिए मानो उसे ढूंढ रही है। अगर समाज में किसी व्यक्ति को कोई खास 'स्थिति' प्राप्त हो जाय, तब तो उसकी नैसर्गिक-इच्छा पूर्ण ही हो गई, अगर बाहर के समाज में उसे वह नहीं मिलती, तो परिवार में तो वह उसे मिलती ही रहती है। बाप हुकूमत करता है, माँ अपने क्षेत्र में राज करती है, बच्चा भी अपने को कुछ समझता है, और कुछ नहीं, तो यह तो समझता ही है कि वह जो-कुछ चाहेगा मिन्नत-समाजत से, रो-धोकर माँ-बाप से करा लेगा। यह अधिकार-प्राप्ति की लालसा और जगह इतनी जल्दी नहीं पूरी होती, जितनी जल्दी 'परिवार' में पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से 'परिवार' में प्राणी की निम्न 'मनोवैज्ञानिक-इच्छा-ओं' की पूर्ति होती है :—

(१) प्रेम की इच्छा (Need for Affection)

(२) सहानुभूति की इच्छा (Need for Sympathy)

(३) आत्म-गौरव की इच्छा (Drive for Self-assertion)

ऊपर जो विवरण दिया गया है उसका यह अभिप्राय नहीं कि 'परिवार' में यही इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। ये 'शारीरिक' तथा 'मनोवैज्ञानिक'-इच्छाएँ तो दृष्टान्त के तौर पर दी गई हैं, इनके अतिरिक्त अन्य भी 'शारीरिक' तथा 'मनोवैज्ञानिक'-

इच्छाएँ हो सकती हैं जो 'परिवार' द्वारा पूर्ण होती हों।

इन 'शारीरिक' तथा 'मनोवैज्ञानिक'-इच्छाओं के अलावा एक तीसरे प्रकार की इच्छाएँ हैं—'सांस्कृतिक'—जो 'परिवार' द्वारा पूर्ण होती हैं। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, यह समझ लेना आवश्यक है कि 'सांस्कृतिक'-इच्छाओं (Cultural Needs) का क्या अर्थ है?

'सांस्कृतिक-इच्छाएँ' जन्म-सिद्ध नहीं होतीं, वे किसी संस्कृति के कारण उत्पन्न होती हैं। हिन्दू माता-पिता की इच्छा रहती है कि उनकी सन्तान हिन्दू हो, मुसलमान माता-पिता की इच्छा रहती है कि उनकी सन्तान मुसलमान हो, ईसाई माता-पिता की इच्छा रहती है कि उनकी सन्तान ईसाई हो। यह इच्छा 'सांस्कृतिक' है। संस्कृति क्योंकि बदलती रहती है, इसलिए इस प्रकार की इच्छा में भी परिवर्तन आता रहता है। जब संसार में धर्म-परायण संस्कृतियाँ थीं, तब सब की इच्छा सन्तान को धार्मिक बनाने की थी। आज की संस्कृति में धर्म के स्थान पर धन ने स्थान ले लिया है। आज हरेक अपनी सन्तान को जिस-किसी तरह से हो, धर्म से, अधर्म से, धनी देखना चाहता है, इसलिए आज की माता-पिता की 'सांस्कृतिक-इच्छा' में और आज से दो-सौ साल के पहले के माता-पिताओं की 'सांस्कृतिक-इच्छा' में भेद है। 'सांस्कृतिक'-इच्छाओं की पूर्ति मुख्य तौर पर 'शिक्षा' द्वारा होती है। अगर हम एक खास प्रकार की संस्कृति, खास प्रकार के विचारों में पले होने के कारण अपनी सन्तान को एक खास ढंग पर ढालना चाहते हैं, तो 'शिक्षा' द्वारा उसे वैसा ढाला जा सकता है, इसलिए 'सांस्कृ-

तिक-इच्छा' को पूरा करना 'शिक्षा' का काम है, और इस प्रकार की शिक्षा पहले-पहल 'परिवार' में ही दी जा सकती है। 'परिवार' बालक के सामने जिस प्रकार के 'सांस्कृतिक-आदर्श' (Cultural ideals) या 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' (Cultural patterns) रखेगा वैसी ही सन्तान बन जायगी। जैसे हमने 'शारीरिक-इच्छाओं' तथा 'मनोवैज्ञानिक-इच्छाओं' का तीन-तीन, चार-चार प्रकार का वर्गीकरण किया है, वैसे 'सांस्कृतिक-इच्छाओं' का वर्गीकरण नहीं हो सकता क्योंकि यह तो एक ही इच्छा है—अपनी संस्कृति के अनुसार सन्तान को ढालने की इच्छा, इसमें इच्छा के भेद नहीं हैं, इच्छा तो एक ही है, परन्तु भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के अनुसार संस्कृति के भेद हो सकते हैं।

२. परिवार का प्रारंभिक रूप—पितृ-सत्ताक या मातृसत्ताक

हमने देखा कि 'परिवार' का काम मानवीय-इच्छाओं के पूर्ण होने में सहायता देना है। यह विवेचन 'कार्य' (Function) की दृष्टि से हुआ। अब यह भी देख लेना आवश्यक है कि परिवार की 'रचना' (Structure) किस प्रकार होती है, अर्थात् परिवार का विकास किस प्रकार हुआ, इसमें मुख्य-मुख्य तत्व क्या हैं, और उनमें मानवीय-इच्छाओं की पूर्ति अब तक किस-किस प्रकार होती रही है।

परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो विचार पाये जाते हैं। एक विचार तो यह है कि परिवार का जब प्रारंभ हुआ तब पिता परिवार का मुख्य व्यक्ति था। भोजन, रक्षा आदि की 'नैसर्गिक-इच्छाओं' को पूर्ण करने के लिए ही तो परिवार का जन्म हुआ।

इन इच्छाओं को पिता ही आसानी से पूरा करता है। यौन-संबंधों में पहल पुरुष से ही होती है, इसलिए भी परिवार का श्रीगणेश पुरुष द्वारा ही हुआ होगा, वही सर्व-प्रथम परिवार का प्रधान होगा। निम्न प्राणियों का अध्ययन करने पर भी यही पता चलता है कि इतना ही नहीं कि उनमें नर और मादा साथ-साथ रहते हैं, नर मादा को अपने एकाधिकार में भी रखता है। एक समय में एक नर मादा को दूसरे नर के पास नहीं जाने देता। मादा दूसरे नर के पास जाये, तो उसे ईर्ष्या होती है। नर क्योंकि मादा से बलवान् होता है, इसलिए 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या'—इन दो 'नैसर्गिक-इच्छाओं' के कारण वह मादा पर स्वत्व जमा लेता है। इस विचार को माननेवालों का यह भी कहना है कि इसी कारण विकास में पहले-पहल 'एक-विवाह' (Monogamy) की ही प्रथा थी। इस प्रकार आदि-समाज में पिता का स्थान प्रथम था। पिता के परिवार में मुख्य स्थान होने के विचार को समाज-शास्त्र की पुस्तकों में 'पितृ-सत्ताक विचार' (Patriarchal theory) कहा जाता है। इसके मुख्य समर्थक सर हैनरी मेन (Sir Henry Maine) थे जिन्होंने १८६१ में इस मत का समर्थन किया और ज़ोरदार शब्दों में कहा कि आदि-परिवार 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) ही था। वर्तमान-काल में इस विचार का मुख्य तौर पर समर्थन वेस्टरमार्क (Westermarck) ने किया।

१८६१ में ही बैकोफ़न (Bachofen) ने उक्त विचार से उल्टे एक दूसरे विचार को जन्म दिया। उसने कई दृष्टान्त

देकर यह सिद्ध किया कि अनेक जातियों में परिवार में पिता की प्रधानता नहीं है। प्रारंभ में लोग अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए समूह में रहते थे, मिल-जुलकर शिकार करते और खाना आदि ढूंढा करते थे। इन समूहों में स्त्रियाँ भी होती थीं, पुरुष भी होते थे। समूह में रहने के कारण प्रथम-सत्ता 'समूह' की थी, उसमें स्त्री-पुरुषों का नैसर्गिक-इच्छा होने से यौन-संवंध भी होता था। स्त्री का 'समूह' के अनेक पुरुषों से सम्पर्क होने की संभावना रहती थी। वच्चा क्योंकि स्त्री के पेट से होता है इसलिए यह तो कहा जा सकता था कि इस वच्चे की माँ कौन है, यह नहीं कहा जा सकता था कि उसका वाप कौन है? वच्चे के साथ पिता का संबंध न जोड़ सकने के कारण पिता की परिवार में कोई स्थिति नहीं थी, सिर्फ़ माता की स्थिति थी, उसीकी मुख्यता थी। इस विचार को समाज-शास्त्र की पुस्तकों में 'मातृ-सत्ताक विचार' (Matriarchal theory) कहा जाता है। वैकोफ़न के इसी विचार का और अधिक विस्तार करते हुए मौरगन (Morgan) ने लिखा है कि शुरू-शुरू में स्त्री-पुरुष खुले फिरते थे, जो चाहे जिससे यौन-संवंध करता था, 'संकरता' (Promiscuity) थी, कोई वंधन नहीं था। विकास की इस पहली अवस्था के वाद 'यूथ-विवाह' (Group-Marriage) की दूसरी अवस्था आयी। इस अवस्था में एक पुरुष और एक स्त्री का सम्वन्ध न होकर 'समूह' (Group) के सभी स्त्री-पुरुषों का पारस्परिक यौन-संवंध होता था। इस अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता था कि सन्तान किस पुरुष की है। माता पर ही सन्तान की, उसके लालन-पालन की सारी

ज़िम्मेदारी थी, इसलिए इस समय माता की ही परिवार में मुख्य स्थिति थी। 'संकरता' (Promiscuity) से 'यूथ-विवाह' (Group Marriage) की अवस्था आयी, 'यूथ-विवाह' से 'मातृ-सत्ताक परिवार' (Matriarchal Family) की अवस्था आयी। 'मातृ-सत्ताक परिवार' में क्या होता था ? स्त्री अपने पिता के घर रहती थी। पति अपनी पत्नी के घर आता-जाता था। जो बच्चे होते थे उन पर पिता का अधिकार न होकर माता का अधिकार होता था। पिता के स्थान पर माता के भाई की बच्चों पर देख-रेख होती थी, वही उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करता था, सम्पत्ति पर भी स्त्री का ही अधिकार था। मलाबार में अब भी स्त्री अपना घर छोड़कर नहीं जाती, पति ही अपना घर छोड़कर पत्नी के घर आ बसता है। वर्तमान काल में बैकोफ़न तथा मार्गन के 'मातृ-सत्ताक' विचार के पक्ष-पोषक अनेक समाज-शास्त्री हैं जिनमें समनेर (Sumner), रिवर्स (Rivers), केल्लर (Keller), दुरखीम (Durkheim), हार्टलैंड (Hartland) तथा ब्रिफ़ाल्ट (Briffault) मुख्य हैं।

इन समाज-शास्त्रियों का भी कहना है कि यद्यपि 'मातृ-सत्ताक परिवार' ही शुरू-शुरू में थे, तो भी पीछे जाकर विकास में वे भी 'पितृ-सत्ताक परिवार' में ही बदल गये। 'मातृ-सत्ताक परिवार' तभी तक रह सकता था जबतक लोग वृक्षों के फल-फूल पर निर्वाह करते या शिकार से आजीविका निबाहते थे। जब वे खेती करने लगे तब तो पुरुष का दिन-रात खेती में लगे रहना आवश्यक हो गया। आज हल जोतना है, कल बीज डालना है, परसों नलाई करनी है, फिर पानी देना है, फिर रखवाली करनी है,

फिर खेती काटनी है—गर्ज़ कि कृषि-युग के आते ही पुरुष के पास अपना घर छोड़कर स्त्री के घर जाने की फ़ुर्सत ही न रही। परिणाम यह हुआ कि पुरुष की खाने-पीने की 'नैसर्गिक-इच्छाओं' ने उसे अपनी ज़मीन के साथ बाँध दिया, और स्त्री की प्रेम की इच्छा ने उसे अपना घर छोड़कर पति के घर ला बसाया। कृषि के विकास के साथ 'मातृ-सत्ताक परिवार' बदल कर 'पितृ-सत्ताक' बन गया।

आदि-परिवार कैसा भी रहा हो, 'पितृ-सत्ताक' रहा हो या 'मातृ-सत्ताक' रहा हो—हमने यह देख लिया कि वह जिस-किसी रूप में भी था मनुष्य की 'नैसर्गिक-इच्छाओं' के कारण ही था, इन्हीं इच्छाओं को पूरा करने के लिए मनुष्य का जो 'क्रिया-चक्र' (Cycle of activity) चला वह 'मातृ-सत्ताक' या 'पितृ-सत्ताक' रूप धारण कर गया। 'मातृ-सत्ताक परिवार' में माता के सगे-सम्बन्धियों की, माता के रुधिर के रिश्तेदारों की प्रधानता रहती है, जिन लोगों का माता के रुधिर से सम्बन्ध नहीं, सन्तान के चचा-ताऊ, यहाँ तक कि पति का भी, क्योंकि उसका भी पत्नी से रुधिर का कोई संबंध नहीं, उस परिवार पर कोई अधिकार नहीं होता। इसी दृष्टि से 'मातृ-सत्ताक परिवार' (Matriarchal family) को 'समान-रुधिर परिवार' (Consanguineous family) कहते हैं, इसलिए 'समान-रुधिर परिवार' कहते हैं क्योंकि इसमें समान-रुधिर वालों को प्रधानता रहती है। इसके विरोध में 'पितृ-सत्ताक परिवार' (Patriarchal family) को 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) कहते हैं। 'मातृ-सत्ताक परिवारों'

में माता का घर सन्तान का घर होता है, अतः इन्हें 'मातृ-स्थानी' (Matrilocal) कहा जाता है, 'पितृ-सत्ताक परिवारों' में पिता का घर सन्तान का घर होता है, अतः इन्हें 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) कहा जाता है। 'मातृ-सत्ताक परिवार' में वंशावली माता के नाम से चलती है, अतः इन्हें 'मातृ-वंशी' (Matrilineal) कहते हैं, 'पितृ-सत्ताक परिवार' में वंशावली पिता के नाम से चलती है, अतः इन्हें 'पितृ-वंशी' (Patrilineal) कहते हैं। परिवार के इन प्रारंभिक रूपों में 'यौन-प्रवृत्ति' (Sex instinct), 'सुरक्षा' (Security), 'आत्म-गौरव की भावना' (Self-assertive instinct) आदि काम करती हैं।

३. विवाह के तीन प्रकार

आदि-कालीन परिवार का प्रारंभिक रूप, उसकी उत्पत्ति का वर्णन हमने किया। 'परिवार' में 'स्थिरता' एक आवश्यक अंग है। इस 'स्थिरता' को क्रियात्मक रूप देने के लिए 'विवाह' की प्रथा को चलाया गया। इस प्रथा का यही अर्थ है कि स्त्री-पुरुष का जो 'परिवार' बनता है, उसे स्त्री-पुरुष केवल यौन-संबंध ही न समझें, यह भी समझें कि इसमें उन्हें एक-दूसरे के प्रति तथा सन्तान के प्रति एक ज़िम्मेदारी निभानी है। यह ज़िम्मेदारी तब तक नहीं निभ सकती जबतक वे स्थिर रूप से साथ-साथ न रहें। विवाह-संस्कार करने पर वे समाज के सामने घोषित करते हैं कि वे साथ-साथ रहेंगे, अगर किसी समय यह साथ छोड़ दें, तो दुनिया को भी उनसे पूछने का अधिकार होगा कि तुमने साथ क्यों छोड़ा। मनुष्य की 'सुरक्षा' आदि के प्रति जो

स्थिरता की इच्छा है विवाह उसी इच्छा का प्रतीक है। अब हमें देखना है कि 'विवाह' के क्या-क्या रूप हैं? भिन्न-भिन्न समाजों में 'विवाह' के मुख्य रूप दो हैं—'एक-विवाह' (Monogamy) तथा 'बहु-विवाह' (Polygamy)। 'एक-विवाह' का अर्थ है, एक पुरुष एक स्त्री से शादी करे, और एक स्त्री एक पुरुष से शादी करे। 'बहु-विवाह' के तीन भेद हैं—(१) 'एक पुरुष अनेक स्त्रियाँ', (२) 'एक स्त्री अनेक पुरुष', (३) 'अनेक पुरुष अनेक स्त्रियाँ'। 'एक पुरुष अनेक स्त्रियों' के विवाह को 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहते हैं; 'अनेक पुरुष एक स्त्री' के विवाह को 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहते हैं; 'अनेक पुरुष और अनेक स्त्रियों' के विवाह को 'यूथ-विवाह' (Group-marriage) कहते हैं; किसी प्रकार की विवाह की प्रथा न होने को—जो पुरुष चाहे जिस स्त्री से सम्बन्ध कर ले—'संकरता' (Promiscuity) कहते हैं। 'संकरता' और 'यूथ-विवाह' कभी रहे होंगे, अब नहीं पाये जाते, बाकी तीन पाये जाते हैं, उन्हीं का संक्षिप्त वर्णन हम यहाँ करेंगे।

(१) **बहु-भार्यता** (Polygyny)—एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ होना 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहाता है। मुसलमानों तथा हिन्दुओं में यह प्रचलित है। अब 'हिन्दू विवाह विधेयक' के स्वीकार हो जाने पर हिन्दुओं में तो इस प्रथा को कानूनन रोक दिया गया है। इस प्रकार की प्रथा के चलने में मनुष्य की अनेक नैसर्गिक तथा अन्य इच्छाएँ काम कर रही होती हैं। सब से पहले तो यही इच्छा काम करती है कि पुरुष यौन-संबंध में भिन्नता चाहता है, इसी कारण जब

दास प्रथा थी तब स्त्रियों को खरीदा जाता था, युद्धों में अन्य पदार्थों की लूट के साथ स्त्रियों को भी लूटा जाता था, अर्थात् जितनी हो सकें उतनी स्त्रियाँ पकड़ ली जाती थीं और उन्हें अपने घर में डाल लिया जाता था। आफ्रीका के राजा लोग अधिक स्त्रियों का होना प्रतिष्ठा का कारण समझते थे। अनेक दूसरी जगहों में भी वह व्यक्ति अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता था जिसके घर अनेक स्त्रियाँ हों। पुत्र-कामना के लिए भी एक स्त्री से सन्तान न हुई, तो दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है, और था। राजा दशरथ ने इसी कारण तीन शादियाँ की थीं। ग़रीब लोग आर्थिक-दृष्टि से अनेक विवाह करते हैं, किसान के पास जितनी स्त्रियाँ होंगी उसे उतने ही मानो मुफ्त के मज़दूर मिल जाते हैं। कभी-कभी समाज में युद्ध, बीमारी या किसी अन्य कारण से जब पुरुष मर जाते हैं, स्त्रियों की संख्या अधिक हो जाती हैं, तब भी 'बहु-भार्यता' की प्रथा चल पड़ती है। इस प्रकार पुरुष की काम-वासना, पुत्र-कामना, प्रतिष्ठा की भावना, आर्थिक सम्पन्नता की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए मानव-समाज में एक की जगह अनेक स्त्रियों से विवाह करने की प्रथा चल पड़ती है।

(२) **बहु-भर्तृता** (Polyandry)—जब अनेक पुरुषों की एक स्त्री होती है तब विवाह की उस प्रथा को 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहते हैं। 'बहु-भर्तृता' के दो रूप हैं— (क) एक है 'भ्रातृक-बहुभर्तृता (Fraternal Polyandry) जिसमें कई भाई मिलकर एक स्त्री से शादी कर लें। यह प्रथा भारत में मालावार के नागों, नीलगिरी के टोडों तथा देहरादून ज़िले के जौनसार बावर के इलाके में बहुत

पायी जाती है। पांडवों ने भी ऐसा किया कहते हैं। (ख) दूसरी है 'अभ्रातृक-बहुभर्तृता' (Non-fraternal Polyandry) जिसमें एक स्त्री से जो लोग शादी करते हैं वे भाई-भाई नहीं होते। इसमें स्त्री भिन्न-भिन्न समयों में पतियों के घरों में जाकर रहती है, या पति भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहते हुए भिन्न-भिन्न समयों में पत्नी के यहाँ आकर रहते हैं। यह प्रथा बहुत कम देखने में आती है पर किन्हीं-किन्हीं जंगली जातियों में पायी ज़रूर गई है। इस प्रथा के आधार में मुख्य तौर पर आर्थिक कारण हैं। जौनसार बावर में जब वहाँ के लोगों के सामने इस प्रथा को बुरा कहा जाता है तो वे हँसते हैं, वे कहते हैं कि अगर सब भाई अलग-अलग शादी करें, तो उनकी ज़मीन बटती चली जायगी, हरेक भाई अपना अलग हिस्सा माँगने लगेगा, इस प्रथा के कारण तो उनका परिवार बन्धा रहता है, सब भाई मिले रहते हैं, उनका आर्थिक ढाँचा बना रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'बहु-भर्तृता' की प्रथा इन लोगों की 'आर्थिक-सुरक्षा' की इच्छा को पूर्ण करती है।

(३) **एक-विवाह** (Monogamy)—मानव-समाज विकास के मार्ग पर चलता हुआ 'संकरता' (Promiscuity) से 'एक-विवाह' (Monogamy) की तरफ़ आगे बढ़ रहा है। कई विकास-वादियों का कथन है कि बढ़ नहीं रहा, प्रारंभ से ही मानव-समाज में ही नहीं निम्न-प्राणियों में भी 'एक-विवाह' की ही भावना काम कर रही है। इसके आधार में प्राणी की 'नैसर्गिक-प्रवृत्तियाँ' काम कर रही हैं। डार्विन (Darwin) तथा वेस्टरमार्क (Westermarck) का कथन है कि पुरुष में

'एकाधिकार' (Possessiveness) तथा 'ईर्ष्या' (Jealousy) की नैसर्गिक-इच्छाएँ हैं, इनके कारण प्रारंभ से परिवार में 'एक-विवाह' चला आ रहा है। वर्तमान समय में अन्य प्रकार के जितने विवाह हैं उनकी प्रवृत्ति समाप्त होने की तरफ़ है, उन्नत-समाज की प्रवृत्ति 'एक-विवाह' की तरफ़ ही बढ़ रही है। इसका कारण यह है कि 'एक-विवाह' में ही सन्तान की ठीक-से देख-भाल हो सकती है, और इसीमें प्रेम का निर्बाध रूप से प्रवाह बह सकता है, दूसरे प्रकार के विवाहों में ईर्ष्या की मात्रा शिखर पर बनी रहती है।

४. परिवार में इच्छाओं का दमन

'परिवार' का निर्माण व्यक्ति की इच्छाओं को पूरा करने के लिए होता है परन्तु हम देखते हैं कि जहाँ 'परिवार' हमारी इच्छाओं को पूरा करता है वहाँ अनेक इच्छाओं का दमन भी करता है। माता-पिता अपनी सन्तान के लालन-पालन के लिए अपनी अनेक इच्छाओं को पूरा नहीं करते। वे तो जीवन के इतने साल बिता चुकने के कारण अपनी इच्छाओं को नियन्त्रित करना सीख चुके होते हैं, बालक तो अपनी इच्छाओं का दमन नहीं सीखा होता। माता-पिता चाहते हैं कि बालक अपनी हर इच्छा की, चाहे-जब-चाहे पूर्ति न करे, अपितु उन्हें बन्धन में रखना सीखे, माता-पिता तथा समाज के जिस प्रकार के सांस्कृतिक-विचार हों वह अपने जीवन को वैसा ढाले। उदाहरणार्थ, बच्चा टट्टी-पेशाब जाने की अपनी नैसर्गिक-इच्छा को पूर्ण करना चाहता है, जहाँ चाहता है और जब चाहता है मल-मूत्र कर देता है। माता-पिता इस नैसर्गिक-इच्छा को नियन्त्रित करना

चाहते हैं, टट्टी-पेशाब जाने के लिए उसका समय बाँध देना चाहते हैं, यह भी सिखाना चाहते हैं कि बिस्तर पर या आँगन में टट्टी न फिरे, खुड्डी पर जाकर बैठे। इसी प्रकार भोजन-संबंधी नैसर्गिक-इच्छा को बालक बिना किसी प्रतिबन्ध या रुकावट के पूरा करना चाहता है, परन्तु माता-पिता उसे अपने सांस्कृतिक-विचारों के अनुसार शिष्टता का व्यवहार सिखाना चाहते हैं। बालक अपने परिवार में चारों तरफ़ बन्धन-ही-बन्धन देखता है—यह न करो, वह न करो, ऐसा न करो, वैसा न करो। परन्तु क्या रोकने से कोई बच्चा रुकता है? 'इच्छा' अथवा 'प्रेरक' तो क्रिया में परिणत होने के लिए हैं, 'क्रिया-चक्र' को आगे चलाने के लिए हैं। अगर उसमें रुकावट आती है, 'विफलता' (Frustration) आती है, तो मन के भीतर 'तनाव' (Tension) उत्पन्न हो जाता है, और यह 'तनाव' मानसिक-स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं है। ऐसे समय माता-पिता क्या करें? क्या बच्चे की एषणाओं-इच्छाओं-अभिलाषाओं-प्रेरकों पर ज़बर्दस्ती प्रतिबन्ध लगाकर उसके मन में 'तनाव' उत्पन्न होने दें, अथवा उसे मनमानी करने दें? अगर ज़बर्दस्ती प्रतिबन्ध लगाते हैं, तो बच्चा शरारती हो जाता है, अनेक प्रकार के उपद्रव करने लगता है क्योंकि कोई 'इच्छा' ज़बर्दस्ती रोके रुकती नहीं, दूसरा मार्ग ढूंढ़ने लगती है, अगर प्रतिबन्ध नहीं लगाते तो बालक का विकास हमारे अभीष्ट सांस्कृतिक-विचारों के अनुसार नहीं हो पाता।

इसके लिए हमें क्या करना उचित है? इच्छा को ज़बर्दस्ती रोकना तो मनोवैज्ञानिक उपाय नहीं है। ज़बर्दस्ती रोकी गई

इच्छा एक तो रोकनेवाले के विरुद्ध विद्रोह की भावना को जन्म देती है, दूसरे स्वयं नष्ट भी नहीं होती। एक की जगह दो काम बिगड़ जाते हैं। 'परिवार' में इस समस्या के हल का उपाय यही है कि बालक को क्रियात्मक रूप से यह अनुभव होने लगे कि जिस काम को करने के लिए उसे कहा जा रहा है वह 'लाभ-प्रद' (Rewarding) है, और जिस काम से उसे रोका जा रहा है वह 'हानि-प्रद' (Dis-rewarding) है। वह इस बात को कैसे सीखे कि कौन-सा काम 'लाभ-प्रद' है, और कौन-सा काम 'हानि-प्रद' है? इस संबंध में तो 'सीखने का नियम' (Law of learning) ही काम करता है। 'सीखने का नियम' क्या है? सीखने का नियम यह है कि जिस काम को करने से सुख हो वह अपने-आप सीखा जाता है, जिस काम को करने से दुःख हो वह अपने-आप भुला दिया जाता है। लोग कर्ज़ा देकर याद रखते हैं, लेकर भूल जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कर्ज़ा देने वाले को रुपया वापस लेने में सुख होता है, और कर्ज़ा चुकाने वाले को उसे चुकाने में दुःख होता है, सो लेनेवाला याद रखता है, देने वाला भूल जाता है। हम जिस बात को बच्चे को सिखाना चाहते हैं उसके साथ सुख-दुःख के जोड़ देने से वह उसे स्वयं सीख जाता है। हमने बच्चे को कहा—आँगन में टट्टी नहीं फिरना। अगर हम उससे ज़बर्दस्ती करायेंगे तो वह विद्रोह करेगा, अगर ज़बर्दस्ती न करके आँगन में न बैठकर खुड्डी पर बैठने के कारण उसकी प्रशंसा करेंगे, वाह कैसा अच्छा बालक है, अपने-आप खुड्डी पर जा बैठता है, तब वह विद्रोह करने के स्थान में स्वयं खुड्डी पर जाकर बैठेगा।

किसी भी परिस्थिति के उपस्थित होने पर जिस प्रकार की भी सांस्कृतिक-प्रतिक्रिया हम वच्चे में चाहते हैं उसके साथ सुख-दुःख, सन्तोष-असन्तोष, लाभ-हानि जोड़ देने से बच्चा अपनी इच्छा के अनुसार चलने के स्थान में हमारी इच्छा के अनुसार चलना सीख जाता है।

किसी काम के साथ 'सन्तोष' को जोड़ देने का तरीका तो किसी प्रकार का इनाम देना या बालक की प्रशंसा कर देना है। 'असन्तोष' जोड़ने के लिए तीन उपाय हैं—वे हैं 'भय' (Fear), 'उपहास' (Ridicule) तथा 'अपराध की भावना' (Sense of guilt)। हम इन तीनों का वर्णन करेंगे :—

(१) अगर बालक कोई ऐसा काम कर रहा है जिसे माता-पिता चाहते हैं कि वह न करे, तो 'भय' के द्वारा उसे रोका जा सकता है। 'भय' के अनेक प्रकार हो सकते हैं। दण्ड का भय बहुत अधिक अच्छा उपाय नहीं है क्योंकि इससे बालक के मन में दण्ड देने वाले के प्रति भी घृणा का भाव उदय हो जाता है। 'भय' ऐसा हो जिससे दण्ड देने वाले के प्रति घृणा न हो इसका क्या उपाय है ? अगर बालक यह अनुभव करे कि जिस काम से मुझे रोका जा रहा है उसे करूँगा तो माता मुझे प्यार नहीं करेगी, तो वह उस काम को नहीं करेगा। वह मन में दोनों बातों को तोलेगा। अगर निषिद्ध काम को करता हूँ तो इच्छा पूरी होती है, परन्तु माँ का प्यार नहीं मिलता, नहीं करता तो इच्छा पूरी नहीं होती परन्तु माँ का प्यार मिलता है। दोनों में से मेरे लिए कौन-सी चीज़ अधिक उपयोगी है ? माँ के प्यार से ही तो मुझे खाने को मिलता है, माँ का प्यार ही तो मेरी पिता की नाराज़गी

से रक्षा करता है। यह सब सोचकर बच्चा माँ के प्यार के छूट जाने के 'भय' से जो-कुछ माँ कहती है वह करने लगता है, जिससे रोकती है उससे रुक जाता है।

(२) 'उपहास' द्वारा भी 'परिवार' में बालक को मनमाना करने से रोका जाता है। 'उपहास' में क्या होता है? बालक कुछ गड़बड़ कर रहा है। हम उसकी हँसी उड़ा देते हैं। वह शर्मिन्दा हो जाता है और उस काम को नहीं करता। शर्मिन्दा होकर बालक उस काम को क्यों नहीं करता? इसलिए नहीं करता क्योंकि प्रत्येक बालक अपनी प्रशंसा चाहता है, दूसरों की नज़रों में उठना चाहता है, गिरना नहीं चाहता। जब माता-पिता किसी बात में बालक का उपहास कर देते हैं तब बालक अपने-आप को दो भागों में बाँट लेता है। एक तो उसका अपना आपा जो उस काम को कर रहा है, दूसरा उसका वह आपा जो माता-पिता उसका बनाना चाहते हैं। इन दोनों आपों में द्रष्टा और दृश्य का भाव उत्पन्न हो जाता है। माता-पिता मेरा जो रूप बनाना चाहते हैं वह 'मैं' क्या हूँ? झूठ न बोलने वाला, चोरी न करने वाला। परन्तु अस्ल में 'मैं' क्या हूँ? मैं हूं झूठ बोलने वाला, चोरी करने वाला। अब झूठ वाला 'मैं' झूठ न बोलने वाले 'मैं' को ऐसे देखता है जैसे दो व्यक्ति एक-दूसरे को देख रहे हों, और माता-पिता ने मेरे जिस 'मैं' की कल्पना मेरे भीतर पैदा कर दी है वह मेरे दूसरे 'मैं' का वैसा ही 'उपहास' करने लगता है जैसे मेरे माता-पिता मेरा 'उपहास' करते हैं। इस मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया का यह परिणाम होता है कि बालक अपनी इच्छा के अनुसार चलने के स्थान में माता-पिता तथा समाज के दूसरे

व्यक्तियों की इच्छा के अनुसार चलने लगता है।

(३) परिवार की बालक के सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या यही तो है कि बालक जैसा चाहे वैसा करने के स्थान में, जैसा हम चाहें, माता-पिता, समाज चाहे, वैसा वह करे। इसका उपाय 'भय' तथा 'उपहास' तो हैं ही, तीसरा उपाय यह है कि बालक में इस प्रकार की 'उत्कृष्ट आत्म-भावना' (Super-ego) उत्पन्न हो जाय जिससे वह हमारी मर्ज़ी का काम करे, अपनी मर्ज़ी का न करे। हमने 'उपहास' का वर्णन करते हुए अभी उस मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया का वर्णन किया था जिसमें बालक अपने को दो भागों में बाँट लेता है। एक उसकी 'आत्म-भावना' का, "मैं' का वह भाग जो माता-पिता की, साथी-मित्रों की आशाओं से बना होता है, दूसरा 'आत्म-भावना' का वह भाग जो उसका वास्तविक होता है। वह वास्तव में जो-कुछ होता है, उसे, वह उस 'मैं' के अनुकूल बनाना चाहता है जो उसके माता-पिता या साथी-मित्र उसे बना हुआ देखना चाहते हैं। अगर माता-पिता अपने बालक को ख़तरा पैदा हो जाने पर उसका मुक़ाबिला करने वाला देखना चाहते हैं, तो अपने-आप के दो भाग कर के, उसका ख़तरा देखकर भाग खड़े होने वाला जो आपा है, उसे वह न भागने वाला बनाना चाहता है। बालक का वह 'आपा' जो माता-पिता या सगे-सम्बन्धियों की इच्छाओं के आधार पर बना होता है उसका 'उत्कृष्ट-आपा' (Super-ego) कहाता है। यह 'उत्कृष्ट-आपा' हर समय फ़ैसला किया करता है कि कौन-सा काम उचित है, कौन-सा अनुचित। जब बालक में 'उत्कृष्ट-आत्म-भावना' (Super-ego) उत्पन्न हो जाती है, तब वह परिवार का अंग

होता हुआ स्वयं अपनी इच्छाओं का दमन करता रहता है, इस दमन से उसमें कोई 'तनाव', कोई 'विफलता' (Frustration) भी नहीं उत्पन्न होती, और उस अवस्था में उसकी इच्छाओं का 'समाजीकरण' (Socialization) हो जाता है, अर्थात् वह अपनी इच्छाओं को अपनी मर्ज़ी के अनुसार चलाने के स्थान में समाज जैसा चाहता है वैसे चलाने लगता है।

५. परिवार का भूत, वर्तमान तथा भविष्य

'परिवार' में पुरुष, स्त्री तथा बच्चे होते हैं। परिवार का संगठन इसलिए हुआ ताकि खाने, पीने, सुरक्षा, प्रेम आदि की मूल-भूत नैसर्गिक आवश्यकताओं को हम पूरा कर सकें। इन सब में भी मुख्य आवश्यकता आर्थिक थी। खाने-पीने की आर्थिक आवश्यकता जब इकले से पूरी नहीं हुई, तो मेल ज़रूरी हुआ। परिवार के लोगों ने जब खाना है, तो खाद्य-पदार्थ की उत्पत्ति भी उन्हीं का काम है, इसीलिए जब परिवार पहले-पहल बना तब ति-पत्नी दोनों खेती करते थे, बच्चे उनकी सहायता करते थे। परिवार 'खाद्य-भक्षण का केन्द्र' (Consuming Centre) था, 'खाद्योत्पत्ति का केन्द्र' (Producing Centre) भी था। खाद्य-पदार्थों के अतिरिक्त 'परिवार' में अन्य उद्योग-धन्धे भी चलते थे, कोई कपड़ा बुनता था, कोई लकड़ी गढ़ता था। यह अवस्था 'गृहोद्योगों' (Cottage industry) की अवस्था थी। 'परिवार' में अपने काम की चीज़ें पैदा कर ली जाती थीं, जो बच रहती थीं, वे 'विनिमय' के युग में वस्तुओं द्वारा अदल-बदल ली जाती थीं, सिक्का चलने के युग में बेच दी जाती थीं।

'परिवार' की इस आर्थिक-व्यवस्था को योरोप में १९वीं

शताब्दी में 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) द्वारा एक ज़बर्दस्त धक्का लगा। इस शताब्दी में भिन्न-भिन्न आविष्कार हुए, कल-कारख़ाने बने, नई-नई मशीनों का आविष्कार हुआ। बड़ी-बड़ी मशीनें तो छोटे-से घर में नहीं लगाई जा सकती थीं। परिणाम यह हुआ कि घर के बाहर बड़े-बड़े कारख़ाने बने और जो लोग अबतक घर में 'गृहोद्योगों' में लगे हुए थे वे घर छोड़कर 'फ़ैक्टरियों' में काम करने के लिए जाने लगे, 'परिवार' (Family) और 'गृहोद्योग' (Cottage-industry) का जो अबतक सम्बन्ध बना हुआ था वह टूट गया, पति-पत्नी को एक ही जगह बाँध कर रखनेवाला एक आर्थिक-कारण नष्ट हो गया। इस 'यन्त्रीकरण' (Industrialization) के साथ-साथ 'विशेषीकरण' (Specialization) भी शुरू हो गया। पहले तो एक ही आदमी सब-कुछ कर लेता था, अब हरेक बात में 'विशेषीकरण' की प्रवृत्ति बढ़ गई। एक आदमी मशीन से रूई धुनता है, तो वह कातना नहीं जानता, दूसरा कातता है तो बुनना नहीं जानता, तीसरा बुनता है तो धुनना या कातना नहीं जानता। 'विशेषीकरण' का एक लाभ भी है, और वह यह कि जो किसी काम का विशेषज्ञ होता है वह उस काम के हर पहलू को जानता होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि पहले जितने भी काम घर पर, परिवार में होते थे, वे सब घर के बाहर विशेषज्ञों द्वारा होने लगे। रोटी बनाने के घर के काम को होटलों और रिस्टोराँ ने ले लिया, कपड़े धोने के लिए लाँड्रियाँ खुल गईं, कपड़े सीने के लिए टेलरिंग-हाउस, बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल-कालेज, लालन-पोषण

के लिए शिशु-शालाएँ खुल गईं। जब घर में स्त्री के लिए कुछ करने को न रहा, तो वह भी आजीविका की तलाश में पुरुष की तरह घर से बाहर निकल पड़ी। अब यह स्थिति है जिसने विश्व के सामने एक महान् समस्या खड़ी कर दी है —यह समस्या कि जिस दिशा में हम जा रहे हैं उसमें जाते-जाते 'परिवार' की संस्था बच रहेगी या नष्ट हो जायगी, घर बचेगा या टूटेगा ?

इस समस्या के सम्बन्ध में समाज-शास्त्रियों के दो भिन्न-भिन्न विचार हैं। इन दोनों विचारों के सम्बन्ध में यहाँ कुछ चर्चा कर देना आवश्यक है :—

(१) पहला विचार तो यह है कि 'परिवार' टूटता जा रहा है। पहले 'परिवार' का काम वस्तुओं का 'उत्पादन' (Production) तथा 'उपभोग' (Consumption) दोनों था, अब परिवार का काम बनी-बनाई वस्तुओं को बाजार से खरीद कर उनका उपभोग मात्र रह गया है। 'उत्पादन' का काम 'परिवार' के हाथ में नहीं रहा। पहले सन्तान की शिक्षा का काम 'परिवार' का था, अब राज्य को शिक्षा का प्रबन्ध करना होता है। इसी प्रकार अन्य सब काम जो 'परिवार' करता था 'परिवार' के हाथ से निकल कर भिन्न-भिन्न संस्थाओं के हाथ चले गये हैं। इस विचार के पक्ष-पोषक मोरर (Mowrer,), मैरियन कौक्स (Marion Cox), इलियट तथा मेरिल (Elliot and Merrill) आदि हैं।

(२) दूसरा विचार यह है कि 'परिवार' टूट नहीं रहा, सिर्फ़ अपना रूप बदल रहा है, उसकी रचना में परिवर्तन आ रहा है। यह परिवर्तन किस प्रकार का है—इस विषय में भिन्न-भिन्न

विचार हैं। वे परिवर्तन क्या हैं ?

(क) परिवार की रचना में एक परिवर्तन तो यह आ रहा है कि आज जिस 'पितृ-सत्ताक परिवार' (Patriarchal family) तक हम पहुँच चुके हैं, ऐसा परिवार जिसमें पिता ही सब-कुछ है, उसकी आज्ञा वेद-वाक्य है, यह अवस्था बदल कर फिर धीरे-धीरे परिवार में माता का स्थान बढ़ता जा रहा है। 'पितृ-सत्ताक परिवार' में पिता का काम ही कमाना रह गया था, माता का काम धनोपार्जन नहीं था, परन्तु आज के युग में फिर से स्त्री ने आर्थिक-समस्या को हल करने में अपना हाथ बटाना शुरू कर दिया है। ज्यों-ज्यों स्त्री-शिक्षा बढ़ती जा रही है, साथ ही ज्यों-ज्यों जीवन-संग्राम की विषमता उग्र होती जा रही है, त्यों-त्यों स्त्री ने धनोपार्जन शुरू कर दिया है। इस परिवर्तन के कारण परिवार में स्त्री का स्थान फिर से महत्वपूर्ण होता जा रहा है। अगर यह प्रगति जारी रही तो होते-होते फिर परिवार के विकास की दिशा 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) से 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। इस विचार के समर्थकों में एन्डरसन (Anderson) मुख्य हैं।

(ख) परिवार की रचना में एक परिवर्तन यह भी आ रहा है कि जो बातें 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) के कारण परिवार में से निकल गई थीं, वे धीरे-धीरे दूसरे रूपों में परिवार में फिर से आ रही हैं, और परिवार की स्थिरता पहले से भी बढ़ती जा रही है। उदाहरणार्थ, परिवार के टूटने के पक्षपाती कहते हैं कि लोग घरों में न खाकर होटलों में खाते हैं, परन्तु अब होटल इतने महँगे होते जा रहे हैं, और बिजली-भाप

आदि के कारण भोजन बनाने के साधन इतने परिष्कृत होते जा रहे हैं कि लोग फिर से उत्तम साधनों से सज्जित होकर घर में ही भोजन बनाना उत्तम समझने लगे हैं। आनन्द-मौज-बहार के लिए लोग सभा-सोसाइटियों में, सिनेमा-नाटकों में जाते थे, घर में उन्हें खेल-तमाशे के साधन नहीं मिलते थे, परन्तु रेडियो और टैलीवीयन के आविष्कार से फिर लोग घर में ही समय बिताने लगे हैं। शिक्षा घर से बाहर नर्सरी में दी जाने लगी थी परन्तु इस बात को समझा जाने लगा है कि नर्सरी-काल से पहले का समय शिक्षा के लिए सब से अधिक उपयोगी है, यहाँ तक कि माँ का दूध पीते समय बच्चे के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव उम्र भर रह सकता है। मनोविश्लेषणवाद ने शिशु के सम्बन्ध में जिन विचारों को जन्म दे दिया है उनके कारण कितनी ही नर्सरी क्यों न बन जाँय, माता-पिता की शिशु के प्रति ज़िम्मेवारी किसी प्रकार कम नहीं हो सकती और उन्हें परिवार में बच्चे पर ध्यान देना ही होगा। यह ठीक है कि परिवार का वह रूप बना नहीं रह सकता जो अब तक था, शायद इसी कारण तलाक आदि हुआ करता है, परन्तु तलाक या परिवार की अबतक की बनी बातों के टूटने का यह अर्थ नहीं है कि परिवार ही टूट रहा है, परिवार तो फिर से उन चीज़ों को पकड़ता जा रहा है जिन्हें यह छोड़ रहा था, हाँ, इस सब का यह अर्थ ज़रूर है कि भविष्य का परिवार आज के परिवार से बदला हुआ होगा, इस ढंग का न होकर किसी दूसरे ढंग का होगा, और जिस ढंग का होगा उसमें परिवार के आधार-भूत तत्व अधिक स्थिर और दृढ़ नींव पर खड़े होंगे।

४

भारतीय-परिवार

(THE INDIAN FAMILY)

१. संकरता

भारतीय-परिवार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? क्या यहाँ पहले कोई परिवार का बन्धन नहीं था, 'संकरता' (Promiscuity) थी, पीछे से विवाह का बन्धन चला, विवाह के बन्धन में भी क्या एक-पतिव्रत तथा एक-पत्नीव्रत ही था या बहु-विवाह आदि की प्रथा थी, विवाह कहीं भी हो सकता था या इसमें विधि-निषेध थां, विवाह का उद्देश्य क्या था, परिवार में स्त्रियों की स्थिति क्या थी, निकटस्थ-सम्बन्धियों का परिवार में क्या स्थान था, पिता-माता-पति-पत्नी-पुत्र का क्या धर्म था—आदि अनेक प्रश्न हैं जिनका 'भारतीय-परिवार' पर विचार करते हुए समाधान करना होगा। ये इतने विस्तृत प्रश्न हैं कि इन सब पर विस्तृत विचार करना यहाँ कठिन है। हम इन समस्याओं में से कुछ पर इस अध्याय में विवेचन करेंगे।

भारतीय-परिवार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १२३, श्लोक १३–१४ में लिखा है कि एक दिन ऋषि श्वेतकेतु अपनी माता के पास बैठे थे, उनके पिता भी वहीं थे, इतने में एक ब्राह्मण आकर उनकी माता का हाथ पकड़ कर कहने लगा—'युवती, तुम मेरे साथ चलो।' अब वह

ब्राह्मण श्वेतकेतु की माताको उसके देखते-देखते लेकर चल दिया। इससे श्वेतकेतु को बड़ा क्रोध आया। उसे क्रोध करता देखकर उसका पिता बोला--

मा तात कोपं कार्षी: त्वं एष धर्मः सनातनः।
अनावृताः हि सर्वेषां वर्णानां अंगनाः भुवि ॥
यथा गावः स्थिताः त्वेवं स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः।

अर्थात्, बेटा, क्रोध मत कर। यह प्रथा तो सनातन-काल से चली आ रही है। संसार में सब वर्णों की स्त्रियाँ इस विषय में स्वतन्त्र हैं। जैसे गाय-बैल का संबंध है, वैसे सब वर्णों की प्रजाओं में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध है। श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने उसे समझाने की कोशिश की, परन्तु श्वेतकेतु ने इस प्रथा को स्वीकार नहीं किया और उसने यह नियम बना दिया कि एक पुरुष की एक ही स्त्री होकर रहे।

इसी आशय की बात महाभारत के शान्तिपर्व में आती है। वहाँ लिखा है :—

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने।
कामाचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ॥

पाश्चात्य विचार-धारा में मौरगन (Morgan), एन्जल्स (Angels) आदि विचारकों ने मानव-समाज में इसी स्थिति का वर्णन किया है। श्री मेयर (Meyer) ने 'सैक्षुअल लाइफ़ इन एन्शिएन्ट इंडिया' में यहाँ के धर्म-ग्रन्थों से इसी आशय के प्रमाण एकत्रित किये हैं। कम्युनिस्ट विचार-धारा के श्री डाँगे ने 'इंडिया—फ्रौम प्रिमिटिव कम्युनिज़्म टु स्लेवरी' में भी इसी बात का समर्थन किया है। समाज की इस स्थिति को

'संकरता' (Promiscuity) या 'अनावृत-परिवार' (Agamy) कहा जाता है। इस अवस्था में पुरुष स्त्री से या स्त्री पुरुष से बंधी नहीं होती। परन्तु सिर्फ़ कुछ श्लोकों के आधार पर सम्पूर्ण भारतीय-परिवार के सम्वन्ध में इस प्रकार का परिणाम निकालना उपयुक्त नहीं।

यह हो सकता है कि इस प्रकार की संकर-व्यवस्था इस देश में कहीं-कहीं पायी जाती हो। इतना वड़ा देश है। सारे देश में एक ही प्रकार के रीति-रिवाज़, प्रथायें नहीं हो सकतीं। कितनी ही जातियाँ यहाँ आयीं। अपने रीति-रिवाज़ों, प्रथाओं को लेकर आयीं। उन्होंने कुछ अपना यहाँ के लोगों को दिया, कुछ यहाँ का लिया। कौन-सी पारिवारिक-प्रथा यहाँ की अपनी थी, कौन-सी दूसरों से ली, यह तो गवेषणा का एक विषय है। हाँ, यह अवश्य प्रतीत होता है कि बिना विवाह के स्त्री-पुरुष का संबंध यहाँ होता रहा परन्तु बहुत संभव है यह प्रथा वाहर से आयी हो। महाभारत में जव युद्ध हो रहा था, कर्ण का सारथि शल्य वना, तव कर्ण ने मद्र देशवासियों के आचार की निन्दा शुरू की। शल्य मद्र देश का था, और पाण्डु की स्त्री माद्री का भाई था। माद्री का नाम माद्री भी इसीलिए था क्योंकि वह मद्र देश की थी। कर्ण ने मद्र देश के आचार-विचार के लिए शल्य को कहा—

पिता पुत्रश्च माता च श्वश्रू-श्वशुर-मातुलाः।
जामाता दुहिता भ्राता नप्ता ते ते च वान्धवाः॥
वयस्याभ्यागताश्चान्ये दासी-दासं च संगतम्।
पुंभिर्विमिश्रा नार्यश्च ज्ञाताज्ञाताः स्वयेच्छया॥

अर्थात्, मद्र देश के लोगों में स्त्री-पुरुष का कोई विवेक नहीं, सब पुरुष सब स्त्रियों से मिलते हैं। मद्र देश भारत का ही कोई प्रदेश था या दूसरा कोई देश था जहाँ की कन्या से पाण्डु ने विवाह किया। जो-कुछ भी रहा हो, यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की संकरता सारे देश में नहीं रही होगी, किन्हीं ख़ास-ख़ास भागों में रही होगी, और इसको बुरा माना जाता होगा। अस्ल में, भारत का इस सम्बन्ध में कोई क्रम-बद्ध इतिहास नहीं मिलता। इन सब बातों का संकलन करना पड़ता है। यह 'संकर' की अवस्था क्या आदि-काल से थी, अगर आदि-काल में न थी, तो क्या मध्य-काल में हुई, या आदि-काल में थी, फिर नष्ट हो गई, मध्य-काल में फिर उठ खड़ी हुई, या बाहर से आयी, या यहाँ थी ही नहीं, बाहर की जो जातियाँ यहाँ आ बसी थीं उन्हीं में यह प्रथा थी—ये सब बातें बहुत पेचीदगी की हैं, और इनके विषय में निश्चित तौर पर हम कुछ नहीं कह सकते।

२. विवाह

ऊपर जो-कुछ कहा जा चुका है उसके बावजूद हम कह सकते हैं कि 'परिवार' की प्रथा अति प्राचीनकाल से इस देश में पायी जाती है। सब धर्म-शास्त्रों में 'परिवार' का विस्तृत वर्णन है। परिवार का आधार विवाह है। विवाह आठ प्रकार का माना जाता था। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इनमें से पहले चार उपादेय तथा पिछले चार अनुपादेय कहे गये थे। विवाह के सम्बन्ध में विस्तृत संस्कार की मर्यादा बाँध दी गई थी। विवाह को संस्कार का रूप देने का अभिप्राय यह था कि यह कोई सौदा नहीं है, यह जन्म-भर

का एक बन्धन है, इसे आजीवन निबाहना होगा। विवाह का उद्देश्य विषय-वासना न होकर सन्तानोत्पत्ति कहा गया था। सन्तान न होना पति-पत्नी के लिए भारी चिन्ता का विषय बन जाता था। यह समझा जाता है कि सन्तान ही माता-पिता का नरक से त्राण करती है। 'पुत्र'-शब्द का अर्थ ही यह किया जाता था—'पुं नाम नरकात् त्रायत इति पुत्रः'—जो नरक से बचाये उसे पुत्र कहते हैं। जब पुत्र का काम माता-पिता को नरक से बचाना कहा गया हो, तब यह बात स्वयं समझ आ जाती है कि वे लोग उत्तम सन्तति पर कितना बल देते होंगे।

३. सपिंड-विवाह का निषेध

उन लोगों का विचार था कि उत्तम तथा स्वस्थ सन्तान उत्पन्न करने के लिए रुधिर का दूर-दूर के व्यक्तियों से मेल होना चाहिए। अगर बहुत निकट के व्यक्तियों का रुधिर-संबंध होगा, तो सन्तान स्वस्थ तथा उत्तम नहीं होगी। इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर पिता की सात और माता की पाँच पीढ़ियों में शादी करना मना था। इसे 'सपिंड-विवाह-निषेध' कहा जाता था, दूसरे शब्दों में इसे 'बहिर्विवाही-प्रथा' (Exogamy) कहते हैं। 'बहिर्विवाह' का उद्देश्य असमान रुधिर का मिलाना है। भाई-बहिन आदि एक ही रुधिर वालों के विवाह को 'सम-रुधिर विवाह' (Incestuous marriage) कहा जाता है, ऐसा विवाह सन्तान के शरीर, मन तथा बुद्धि को क्षीण कर देता है, यह उनका ख्याल था। इसी कारण उन लोगों में रुधिर के निकट के व्यक्तियों में विवाह नहीं होता था। 'दुहिता' शब्द का निरुक्तकार ने अर्थ किया है—'दुहिता दुर्हिता

दूरे हिता'—अर्थात्, दुहिता वह है जिसका अपने से दूर के रुधिर में विवाह किया जाय, दूर में ही उसका हित है। अब 'हिन्दू विवाह तथा तलाक'-विधेयक जो १९५४–५५ में स्वीकार हुआ है उसके अनुसार पिता की सात की जगह पाँच तथा माता की पाँच की जगह तीन पीढ़ी सपिंड मानी गई हैं, इनमें विवाह का निषेध माना गया है, पिता की सात और माता की पांच नहीं।

४. सगोत्र-विवाह का निषेध

जैसे भारतीय-समाज में 'सपिंड-विवाह' का निषेध था, वैसे 'सगोत्र-विवाह' का भी निषेध था। 'सगोत्र' का क्या अर्थ है? गोत्र तथा प्रवर एक-दूसरे के वहुत निकट अर्थ के शब्द हैं। प्राचीन-काल में कई गुरु किन्हीं विशेष-विशेष सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। उन गुरुओं के अनुयायियों का जो समूह था, वे एक कुल के तौर पर रहते थे, और इस कुल को प्रवर कहते थे। इन प्रवरों के आधार पर गोत्र वने। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रवर छोटे-छोटे समुदाय थे, गोत्र बड़े थे, परन्तु दोनों का अभिप्राय कुल से था। कुल का अर्थ है—परिवार। 'सपिंड' तो रुधिर की एकता पर आश्रित हैं, परन्तु 'गोत्र' और ही तरह के परिवार थे। ये छोटे-छोटे परिवार रुधिर के सम्वन्ध पर आधारित नहीं थे, विचारों पर, सिद्धान्तों पर आधारित थे। कोई गुरु अपने किसी विशेष-विशेष सिद्धान्तों के कारण एक परिवार-सा वना लेता था, इसमें रुधिर के अर्थात् सपिंड व्यक्ति भी शामिल होते थे, जिनका कोई रुधिर का सम्वन्ध नहीं होता था, वे भी शामिल होते थे। ये सव मिलकर रहते थे, उनका एक परिवार-सा वन जाता था। इनमें से कुछ पढ़ाने-

लिखाने का, कुछ मौका आ पड़ने पर लड़ने का, कुछ उद्योग-धन्धे का, कुछ मेहनत का काम करते थे, और अपने कार्य के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहाते थे। तभी हम देखते हैं कि जो लोग रुधिर से संबद्ध नहीं हैं उनका भी एक गोत्र पाया जाता है, और जो लोग रुधिर से सम्बद्ध हैं उनका कभी-कभी भिन्न गोत्र पाया जाता है। आदि गोत्र-प्रवर्तक आठ थे—विश्वमित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप तथा अगस्त्य। ये आठ गोत्र क्या थे मानो आर्यों के आठ सैद्धान्तिक सम्प्रदाय थे, आर्यों के आठ दल थे। बढ़ते-बढ़ते ये चौबीस हो गये, फिर उनचास, फिर सैंकड़ों, फिर सहस्रों हो गये। इनको 'गोत्र' इसलिए कहा जाता था कि यद्यपि ये एक ही गुरु के चेले होते थे, तो भी जहाँ रहते थे, वहाँ पशु-पालन तथा कृषि का कार्य मिलकर करते थे ताकि आजीविका का निर्वाह हो सके। 'गो' का अर्थ है—पशु तथा पृथिवी। मानव-समाज ने पहले-पहल अपनी आजीविका के लिए पशु-पालन शुरू किया था, फ़िर कृषि शुरू की। ये दोनों बातें 'गोत्र'-शब्द में आ जाती हैं। इन लोगों का आपस का दायरा इतना छोटा होता था कि सब आपस में एक-दूसरे को भाई-बहन समझते थे। क्योंकि भारतीयों में भाई-बहिन की शादी मना थी, और एक गोत्र के लोग यद्यपि भाई-बहन नहीं थे तो भी एक-दूसरे के साथ भाई-बहन का ही बर्ताव करते थे, इसलिए 'सगोत्र-विवाह' का निषेध किया गया। सगोत्र-विवाह के निषेध का यह अर्थ नहीं था कि उनकी रुधिर की समानता है। 'सपिंड' की समानता 'प्राणि-शास्त्रीय' (Bio-logical)-समानता है, 'सगोत्र' की समानता 'समाजशास्त्रीय'

(Sociological) समानता है। उस समय क्योंकि 'सगोत्री' लोग एक-साथ रहते थे इसलिए उस समय सगोत्र-विवाह का निषेध युक्ति-संगत था, परन्तु अब तो एक गोत्र वाला देहरादून रहता है, तो उसी गोत्रवाला दूसरा मद्रास रहता है। इनमें गुरु-भाई होने का अब कोई सवाल नहीं उठता इसलिए अब १९४६ से 'सगोत्र-विवाह-विधेयक' के अनुसार समान-गोत्रों का विवाह निषिद्ध नहीं रहा।

५. सजातीय-विवाह का विधान

जिस प्रकार यह निश्चित किया गया कि कहाँ विवाह नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार यह भी निश्चित किया गया कि कहाँ विवाह करना चाहिए। इस देश में सपिडों और सगोत्रों में विवाह का निषेध था, तो सजातीयों में विवाह का विधान था। विवाह कहाँ करना चाहिए इसका विधान कर देना 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहाता है। अपने रुधिर के लोगों में विवाह न करे, परन्तु करे अपनी जात-बिरादरी में। इसीके आधार पर आज ब्राह्मण ब्राह्मणों में, क्षत्रिय क्षत्रियों में, वैश्य वैश्यों में शादी-व्याह करते हैं। परन्तु यह कहना कि अपने देश में सदा जात-बिरादरी में ही विवाह होता आया है, ग़लत है। इसमें संदेह नहीं कि साधारण जन-समाज का यही रवैय्या रहा है, परन्तु जात-बिरादरी तोड़ी भी जाती रही है। इस सम्बन्ध के कुछ ऐतिहासिक प्रमाण श्री सन्तराम ने अपने 'हमारा समाज'-पुस्तक में एकत्रित किये हैं। वे लिखते हैं—"ईसा के दो शताब्दी पूर्व ब्राह्मण राजा अग्निमित्र ने क्षत्रिय राजकुमारी मालविका से विवाह किया। इसी शताब्दी के एक लेख से प्रकट होता है कि

श्रुतियों और स्मृतियों के माननेवाले एक कट्टर ब्राह्मण ने एक क्षत्रिय कन्या से विवाह किया। चौथी शताब्दी में एक ब्राह्मण परिवार की कन्या वैश्य के घर में ब्याही गई। प्रतिहार राज-परिवार की दो पत्नियाँ थीं—एक ब्राह्मण, दूसरी शूद्र। दोनों पत्नियों की सन्तान एक ही घर में रहती थी। नवीं शताब्दी के राजा शेखर ने जो ब्राह्मण था एक सुशिक्षित क्षत्रिय स्त्री से विवाह किया। 'क्षत्रिय-सागर' की कथाओं में हम पाते हैं कि आरंभ में माता-पिता अपनी कन्या के लिए चारों वर्णों के वरों का चुनाव करते थे, फिर अपनी कन्या को पूछते थे कि किसको पसंद करती है। एक कहानी में अशोकदत्त नामक एक ब्राह्मण का एक राजकुमारी से विवाह होता है। इस विवाह का वर्णन करते हुए कथासार कहता है, मानो विद्या और शील का संबंध हुआ हो। नवीं शताब्दी के प्रारंभ तक जात-पात तोड़ कर विवाह किये जा सकते थे।'' यह सब-कुछ कहने का इतना ही अभिप्राय है कि यद्यपि जाति के भीतर ही विवाह का विधान था, तो भी इस बात को भी अनुभव किया जाता था कि आवश्यकता पड़ने पर इस बन्धन को शिथिल भी किया जाना चाहिए। वर्तमान-युग में तो जाति का बन्धन इतना कड़ा हो गया था कि अपनी जाति के भीतर योग्य वर मिलना कठिन हो गया। अब 'हिन्दू विवाह तथा तलाक'-विधेयक के अनुसार अपने से भिन्न जाति में विवाह करना निषिद्ध नहीं रहा।

६. मातृ-सत्ताक तथा पितृ-सत्ताक परिवार

समाज-शास्त्र की पुस्तक में किसी परिवार-प्रथा पर विचार करते हुए अक्सर प्रश्न उठा करता है कि उस समाज में पिता का

स्थान मुख्य है, या माता का ? कई ऐसे परिवार होते हैं जिनमें स्त्री अपने माता-पिता के घर रहती है, पति उसके यहाँ आकर रहता है, इन्हें 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) कहते हैं, कई ऐसे परिवार हैं जिनमें स्त्री पति के घर चली जाती है, उनमें पति की या पिता की प्रधानता रहती है, इन्हें 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) कहते हैं। इस समय तो भारतीय परिवार में पिता की ही प्रधानता है, परन्तु क्या शुरू में भी यहाँ के परिवार की रचना ऐसी ही थी ? कई समाज-शास्त्रियों का कथन है कि यहाँ के शब्दों की रचना इस प्रकार की है जिससे सिद्ध होता है कि यहाँ 'मातृ-सत्ताक'-परिवार थे। उदाहरणार्थ, 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' में माता का स्थान पहले दिया है। सीताराम, राधाकृष्ण आदि प्रचलित नामों में भी सीता और राधा का नाम पहले आता है। परन्तु ये बातें कुछ सिद्ध नहीं करतीं। माता के आदर-भाव के लिए भी ऐसा किया जा सकता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'पुमान् स्त्रिया' एक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि व्याकरण के अनुसार जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों को कहना हो वहाँ पुरुष के कहने से स्त्री का भी बोध हो जाता है। 'पितरौ' का अर्थ माता तथा पिता दोनों है,'भ्रातरौ' का अर्थ भाई तथा बहन दोनों से हो सकता है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि माता-पिता दोनों की तुलना में पिता की प्रधानता थी, 'मातृ-सत्ताक' न होकर 'पितृ-सत्ताक' परिवार थे। परन्तु हो सकता है कि इस देश में दोनों प्रकार के परिवार रहे हों। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक वंशावली पायी जाती है जिसके प्रवर्तकों का नाम माता के नाम पर है—पौति-

माषीपुत्र, कात्यायनीपुत्र, गौतमीपुत्र, भारद्वाजपुत्र, पाराशरीपुत्र। इससे प्रतीत होता है कि ये परिवार 'मातृ-सत्ताक' रहे होंगे। परन्तु इसी उपनिषद् में दूसरे स्थल पर एक दूसरी वंशावली पायी जाती है जिसके प्रवर्तकों का नाम पिता पर है—गोपवन का पुत्र, कौशिक का पुत्र, कौण्डिन्य का पुत्र, शाण्डिल्य का पुत्र। इससे प्रतीत होता है कि ये परिवार 'पितृ-सत्ताक' होंगे। 'मातृ-सत्ताक' परिवारों में वंशावली माता के नाम से चलती है अतः उन्हें 'मातृ-वंशी' (Matrilineal) कहते हैं, 'पितृ-सत्ताक' परिवारों में वंशावली पिता के नाम से चलती है अतः उन्हें 'पितृ-वंशी' (Patrilineal) कहते हैं। 'मातृ-सत्ताक' परिवारों में माता का स्थान ही परिवार का स्थान होता है अतः उन्हें 'मातृ-स्थानी' (Matrilocal) कहते हैं, 'पितृ-सत्ताक'-परिवारों में पिता का स्थान परिवार का स्थान होता है, अतः उन्हें 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) कहते हैं। हमने ऊपर जो विवेचन किया उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय-परिवार कहीं 'मातृ-सत्ताक', कहीं 'पितृ-सत्ताक' रहे होंगे तभी कहीं माता के नाम से और कहीं पिता के नाम से वंशावलियाँ पायी जाती हैं।

७. विवाह का उद्देश्य—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष

भारतीय शास्त्रकारों ने जीवन के उद्देश्य का विवेचन करते हुए परिवार का उद्देश्य भी बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था। उनका कहना था कि जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष है। 'धर्म' का संग्रह जीवन के प्रारंभ में किया जाता है। जीवन के प्रति हमारा क्या दृष्टि-कोण होगा, क्या हम भौतिकवाद के

मार्ग पर चलेंगे या अध्यात्मवाद के—यह सब-कुछ जीवन का प्रारंभ करते हुए ही निश्चित कर लेना आवश्यक था। इसीलिए 'ब्रह्मचर्याश्रम' की स्थापना की गई थी। 'अर्थ' का अभिप्राय धन-धान्य से था। प्रत्येक व्यक्ति को भूख-प्यास तो लगती ही है, ये तो 'आधारभूत-प्रेरक' (Basic drives) हैं। इनके अतिरिक्त 'काम' (Sex drive) भी 'आधारभूत-प्रेरकों' में गिना जाता है। परिवार का उद्देश्य 'अर्थ' तथा 'काम' की एषणाओं को पूर्ण करना था। इसी उद्देश्य से 'गृहस्थाश्रम' का प्रतिपादन किया गया था। धर्म-अर्थ-काम की पहले दो आश्रमों में सिद्धि कर लेने के बाद संसार के बन्धनों को क्रम से दो आश्रमों में रह कर छोड़ा जाता था—ये आश्रम थे 'वान-प्रस्थाश्रम' तथा 'संन्यासाश्रम'—इन दो को मोक्ष का आश्रम कहा जाता था। इस दृष्टि से चारों आश्रमों द्वारा जीवन के महान् उद्देश्य के साथ परिवार के उद्देश्य का मेल मिला दिया गया था।

८. परिवार में रिश्तों का स्थान

भारतीय परिवार में पिता तथा पिता के रिश्तेदार एवं माता तथा माता के रिश्तेदार सब का पर्याप्त स्थान है। इस प्रकार के परिवार को 'उभय-पक्षी-परिवार' (Bilateral family) कहा जा सकता है। पिता का काम परिवार का भरण-पोषण है। पिता शब्द 'पा' धातु से बना है, जिसका अर्थ है पालन करनेवाला। वह परिवार का प्रधान व्यक्ति है, उसी की देख-रेख और आज्ञा में सारा परिवार चलता है। माता का काम परिवार के आन्तरिक प्रबन्ध की व्यवस्था करना है। सब को ठीक समय पर खाना देना, हर-एक को घर की आन्तरिक

व्यवस्था की चिन्ता से मुक्त कर देना उसका काम है। अगर परिवार में पिता की मृत्यु हो जाय, सन्तान कोई न हो, तो पितृ-पक्ष की प्रधानता के कारण सम्पत्ति के उत्तराधिकारी 'पितृ-पक्ष' के लोग—चचा, उसके पुत्र-पौत्र आदि—ही समझे जाते हैं। परन्तु इससे 'मातृ-पक्ष' की सर्वथा उपेक्षा सिद्ध नहीं होती। माता की बहिन को मासी कहा जाता है। मासी का अर्थ है—माँ-जैसी, मासी माँ जैसी ही मानी जाती है। मामा का स्थान परिवार में विशेष महत्व रखता है। विवाह के समय मामा को भात लेकर आना होता है। विवाह के संस्कार पर लड़की का भाई फेरों के समय उसके साथ-साथ रहता है। मृत्यु के समय भी मामा का बहनोई की अर्थी को कन्धा देना आवश्यक माना गया है। संभवतः 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) के ये सब अवशेष हों। जो-कुछ भी हो, भारतीय-परिवार में मातृ-पक्ष के लोगों को विशेष स्थान दिया जाता रहा और अब भी दिया जाता है।

९. स्त्री की स्थिति

परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की 'स्थिति' (Status) तथा उनके 'कार्य' (Roles) पर विचार करते हुए परिवार में स्त्री की स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। इस संबंध में श्री अल्टेकर की 'दी पोज़ीशन ऑफ़ विमेन इन इंडिया' एक प्रामाणिक पुस्तक है। जो लोग इस विषय का विस्तृत अध्ययन करना चाहें उन्हें इस पुस्तक का अवलोकन करना चाहिए। संक्षेप में यहाँ यह कहा जा सकता है कि वैदिक-काल में स्त्री की स्थिति किसी प्रकार पुरुष से कम नहीं थी। पति तथा पत्नी के

लिए 'दम्पती'-शब्द का प्रयोग होता था जिसका अभिप्राय है—'घर के मालिक'। स्त्री पुरुष के बराबर घर की मालिकिन थी। मध्यकाल में जब स्त्रियों के अधिकार छिन गये तब भी स्त्री की अपनी निजी सम्पत्ति मानी जाती थी जिसे 'स्त्री-धन' कहा जाता था। लड़की को अपने माता-पिता से जो-कुछ मिलता था वह 'स्त्री-धन' था, और उस पर स्त्री का ही पूरा स्वत्व माना जाता था। कालान्तर में समय-समय पर पति भी अपनी इच्छा से पत्नी को जो रकम दे देता था वह भी 'स्त्री-धन' के अन्तर्गत आ जाता था। यद्यपि लड़की का अपने माता-पिता की सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं था, तो भी दहेज़ आदि के तौर पर उसे पर्याप्त धन मिल जाता था। वर्तमान-काल में दहेज़ की प्रथा एक कुत्सित रूप धारण कर गई है और सिर्फ़ इसी कारण कई कन्याओं का विवाह नहीं हो सकता। परिणाम-स्वरूप इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन मचा हुआ है।

भारतीय-समाज में स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में यह विलक्षण बात पायी जाती है कि ज्यों-ज्यों हम पीछे की तरफ़ लौटते हैं, त्यों-त्यों उनकी स्थिति उन्नत दीखती है। अन्य देशों के साथ उल्टी बात है। उनके इतिहास में हम ज्यों-ज्यों पीछे की तरफ़ जाते हैं, त्यों-त्यों स्त्रियों की स्थिति गिरी हुई पाते हैं। युरुप में ईसाइयों के प्रभाव के कारण स्त्री में आत्मा नहीं माना जाता था, पुरुष में माना जाता था। समानता का भाव तो वहाँ 'सफ़रेजिस्ट मूवमेंट' के कारण आया, आन्दोलन से स्त्री-पुरुष की समानता अब आयी। भारत के वैदिक-काल में स्त्रियों को पढ़ने-लिखने का पुरुष के बराबर अधिकार प्राप्त था। ऋग्वेद

की कुछ ऋषिकाएँ स्त्रियाँ हैं। रोमशा, लोपामुद्रा, अपाला, कद्रू, विश्ववारा, घोषा, जुहू, वागाम्भृणी, पौलोमी, जरिता, श्रद्धा, कामायनी, उर्वशी, शारङ्गा, यमी, इन्द्राणी, सावित्री, देवयानी, नोधा, आकृष्टभाषा, सिकता, निवावरी, गौपायना—ये वेदों की ऋषिकाएँ हैं। यज्ञ में पति के साथ पत्नी बैठती थी, पत्नी के बिना यज्ञ पूरा नहीं होता था। रामचन्द्र ने राजसूय यज्ञ किया तो सीता के मौजूद न होने पर उसकी प्रतिमा को साथ रखा। वेद में लिखा है—पत्नी घर की मालकिन है, सम्राज्ञी है। अथर्ववेद १४।४४ में आता है:—

सम्राज्ञी एधि श्वशुरेषु समाज्ञी उत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञी एधि सम्राज्ञी उत श्वश्र्वाः।

वेद के अनुसार 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' की आज्ञा थी, अर्थात् ब्रह्मचर्य धारण कर लेने के बाद विवाह होता था, बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी। उपनिषदों से ज्ञात होता है कि कई देवियाँ 'ब्रह्म-वादिनी' होती थीं। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया—यह उपनिषद् में पाया जाता है। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में मैत्रेयी का वर्णन आता है। जिस समय याज्ञवल्क्य घर छोड़ कर संन्यास लेने लगे तब उनका तथा मैत्रेयी का ब्रह्म-ज्ञान संबंधी वार्तालाप हुआ।

मध्य-काल के पूर्वार्ध में भी स्त्रियों की स्थिति ऊंची ही थी। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र से ज्ञात होता है कि विशेष-विशेष अवस्थाओं में तलाक हो सकता था, स्त्रियों का पुनर्विवाह हो सकता था। यूनानी लेखकों से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर आध्यात्मिक-विषयों का अध्ययन करती

थीं। अशोक की पत्नी कारुवाकी अपने पति के साथ धर्म-कार्यों में भाग लेती थी। अशोक ने अपनी पुत्री को सीलोन में बौद्ध-धर्म-प्रचारार्थ भेजा था। यह स्थिति आज से कहीं ऊंची थी।

मध्य-काल के उत्तरार्ध में स्त्रियों की स्थिति गिरने लगी। इस समय बाल-विवाह का प्रचार शुरू हुआ। स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने कन्याओं को उपनयन तथा वेदाध्ययन के अयोग्य माना। वैदिक-शिक्षा से वंचित कर स्त्रियों को कला और साहित्य की शिक्षा दी जाने लगी। इस युग में भी शील-भट्टारिका आदि कुछ लेखिकाएँ हुईं, परन्तु वैदिक समानता के विचारों का क्रमशः लोप होने लगा। इस समय स्त्री पर पुरुष की प्रभुता का विचार बद्धमूल होने लगा। इस समय 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' की जो लहर चली वह अबतक भारतीय-समाज को व्याकुल किए हुए है।

वर्तमान-काल में स्त्रियों की स्थिति में बहुत परिवर्तन आ गया है। वैदिक-काल से अबतक पहुँचने में स्त्रियों का कोई अधिकार बाकी न रहा था, परन्तु पिछले ५०–६० साल से इस दिशा में फिर प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई है। पहले-पहल ईसाई पादरियों ने ईसाइयत के प्रचार के लिए स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार प्रारंभ किया। बंगाल में ब्राह्मो-समाज तथा पंजाब में आर्य-समाज के उद्योग से स्त्री-शिक्षा के आन्दोलन ने वेग पकड़ा। स्त्रियों में शिक्षा के प्रचार का परिणाम यह हुआ कि उनमें जागृति प्रारंभ हो गई, और उन्होंने राजनैतिक अधिकार भी मांगने प्रारंभ कर दिये। १९२७ में भारतीय स्त्रियों का एक

तिनिधि मंडल भारत-मंत्री श्री मौन्टेग्यू से मद्रास में मिला, ौर स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों की तरफ़ उनका ध्यान ाकर्षित किया। १९२६ में स्त्रियों को व्यवस्थापिका-सभाओं सदस्यों के चुनने में वोट देने का अधिकार दे दिया गया। ९२६ में ही श्रीमती मार्गरेट कज़िन्स ने 'अखिल भारतीय हिला परिषद्' की स्थापना की जिसने भारतीय नारी पर बतक लगे सभी कानूनी प्रतिबन्धों को हटाने के लिए तीव्र ान्दोलन प्रारंभ कर दिया। १९३५ में प्रान्तीय तथा केन्द्रीय ाधान-सभाओं में कुछ स्थान स्त्रियों के लिए सुरक्षित रख ये गये। १९४७ से, जबसे देश स्वतंत्र हुआ है, और काँग्रेसी रकार के हाथ में देश की बागडोर आयी है, स्त्रियों की स्थिति संबंध में नक्शा ही बदल गया है। अब प्रत्येक प्रान्त की धान-सभाओं में स्त्रियों का काफ़ी प्रतिनिधित्व है, पार्लिया- ट में भी स्त्रियों की पर्याप्त संख्या है और उन्हीं के उद्योग भिन्न-भिन्न कानून बन रहे हैं जिनके द्वारा स्त्रियों पर लगे ब्रतक के सब प्रतिबन्ध हटते चले जा रहे हैं। 'विवाह तथा ाक विधेयक' एवं 'दायभाग तथा उत्तराधिकार विधेयक' स्वीकार हो जाने से स्त्री की सामाजिक, राजनैतिक तथा र्थिक स्थिति में अब पहले से बहुत अधिक अन्तर पड़ जाने संभावना है।

५

संयुक्त तथा वैय्यक्तिक परिवार

(JOINT AND IMMEDIATE FAMILY)

१. संयुक्त-परिवार की उत्पत्ति का कारण

परिवार का आधार 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) तथा 'आर्थिक' (Economic) एषणाएँ हैं। कैसे ? स्त्री-पुरुष में 'यौन-भावना' (Sex drive) है, जबतक उसे कानूनी रूप न दे दिया जाय तबतक समाज उसकी खुली छूट नहीं देता। स्त्री-पुरुष में 'सन्तान की कामना' (Procreative drive) भी है। ये दोनों एषणाएँ परिवार का 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) आधार हैं। इसके अतिरिक्त भूख-प्यास हरेक को लगती है, सुरक्षा हरेक चाहता है। भूख-प्यास के कारण 'बुभुक्षा' (Hunger drive) तथा जीवन की रक्षा के कारण 'सुरक्षा' (Security drive) भी हरेक में है। ये दोनों एषणाएँ 'आर्थिक' (Economic) हैं। इन 'प्राणि-शास्त्रीय' तथा 'आर्थिक' एषणाओं को पूर्ण करने के लिये ही परिवार बना है। परिवार में पति-पत्नी तथा सन्तान होते हैं, परन्तु शुरु-शुरु में जब परिवार का संगठन हुआ था केवल इन तीन से तो परिवार नहीं बना होगा। उस समय एक-दो के नहीं, अनेक व्यक्तियों के सहयोग से भोजन-प्राप्ति जैसा कठिन कार्य सम्पन्न होता होगा। एक पूर्वज से परिवार के जितने लोग

थे सब साथ रहते थे। एक माता-पिता की पाँच सन्तानें हैं। खेती-बाड़ी के लिए माता-पिता के अतिरिक्त इन पाँचों की ज़रूरत थी। कोई हल चलाता, कोई बीज बोता, कोई खेती की रक्षा करता—सब कामों के लिए अधिक-से-अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता थी। सब की साझी ज़मीन में तो सब का गज़र चल सकता था, ज़मीन के टुकड़े-टुकड़े करके कौन कितना पैदा कर सकता था। परिवार में पति-पत्नी-बच्चे ही नहीं थे, चचा-ताऊ, उनके बच्चे सब शामिल थे। किसी के सन्तान न होती तो गोद ले लेता था, अकेला आदमी कहाँ तक काम कर सकता है। इस प्रकार का जो परिवार बनता था, उसे 'संयुक्त-परिवार' (Joint family) कहते थे। इस परिवार में अविवाहिता कन्याएँ और अविवाहिता बहनें भी शामिल थीं। यह ध्यान देने की बात है कि बहनें तथा कन्याएँ तभी तक इस 'संयुक्त-परिवार' का अंग मानी जाती थीं जबतक उनका विवाह नहीं हो जाता था। विवाह होने के बाद वे दूसरे परिवार का अंग बन जाती थीं, और पहले परिवार से उनका सम्पत्ति-संबंधी कोई लगाव नहीं रह जाता था, जिस परिवार में वे जाती थीं उसमें अपने पति के साथ उनका आर्थिक-सम्बन्ध जुड़ जाता था। विवाह से पहले ही वह अपने पिता या भाई से अपने भरण-पोषण की अधिकारिणी हो सकती थी, उसके बाद इस परिवार का उसके भरण-पोषण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। जबतक वह इस परिवार में थी तबतक वह अपने पिता तथा भाई पर आश्रित थी, जब उस परिवार में चली गई तब अपने पति पर आश्रित

हो गई; यहाँ रहते हुए वह यहाँ के देवी-देवताओं की पूजा करती थी, वहाँ जाकर वह वहाँ के देवी-देवताओं की पूजा करने लगी; यहाँ की ज़िम्मेदारी यहाँ छोड़ कर उसने वहाँ की ज़िम्मेदारी ले ली। इस दृष्टि से 'संयुक्त-परिवार' में लड़की उम्र भर लड़की नहीं मानी जाती, भरण-पोषण की दृष्टि से लड़की के साथ तभी तक लड़की का-सा व्यवहार होता है जबतक वह किसी की पत्नी नहीं बन जाती। पत्नी बनते ही उसके भरण-पोषण का किसी प्रकार का उत्तरदातृत्व संयुक्त-परिवार पर नहीं रहता।

२. संयुक्त-परिवार तथा सम्पत्ति—दायभाग तथा मिताक्षरा

संयुक्त-परिवार के जितने सदस्य होते हैं सब एक ही मकान में रहते हैं, एक ही जगह उनका भोजन बनता है, सब की कमाई एक ही जगह जमा हो जाती है, एक ही देवी-देवताओं का वे आराधन करते हैं। यद्यपि वर्तमान-युग की आर्थिक-परिस्थितियों के कारण संयुक्त-परिवार के सदस्य भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर आजीविकोपार्जन के लिए जाते हैं, तो भी जहाँ-कहीं वे होते हैं वहाँ से अपनी आय का अधिकाँश वे परिवार के उस सदस्य के पास भेजते रहते हैं जो उनके बाल-बच्चों की देख-भाल करता रहता है। समय-समय पर वे बम्बई, कलकत्ता जहाँ-कहीं भी हों वहाँ से अपने घर आते रहते हैं, खासकर शादी-ब्याह के अवसर पर, होली-दीवाली-दसहरे के अवसर पर, और उस समय वे अपनी पूंजी परिवार के प्रधान के सामने रख देते हैं। अगर किसी कारणवश संयुक्त-परिवार के सदस्य एक-दूसरे से जुदा होना चाहें, तो अपनी सम्पत्ति बराबर बाँट कर

अलग हो सकते हैं। संयुक्त-परिवार की सम्पत्ति के बटवारे के संबंध में अपने देश में मुख्य तौर पर दो प्रकार के कानून प्रचलित हैं। एक कानून तो बंगाल तथा आसाम के कुछ हिस्सों में प्रचलित है। इसे 'दायभाग' कहते हैं। दायभाग-विधान के अनुसार पिता अपने जीवन-काल में सम्पत्ति का अखंड स्वामी माना गया है, वही इसका प्रबन्धक भी है, और चाहे तो अपनी इच्छानुसार उसे बेच भी सकता है। दूसरा कानून बंगाल, आसाम तथा दक्षिण-भारत के कुछ हिस्सों को छोड़ कर भारत में सर्वत्र माना जाता है। इसे 'मिताक्षरा' कहते हैं। इसके अनुसार पिता के साथ उसके पुत्र भी जन्म लेते ही सम्पत्ति के मालिक माने गये हैं, पिता वंश-परंपरा-प्राप्त सम्पत्ति को बेच नहीं सकता, अगर हरेक अलग-अलग सम्पत्ति का मालिक बनना चाहता है, तो 'संयुक्त-परिवार' का भंग करना आवश्यक है, बिना कानूनी तौर पर 'संयुक्त-परिवार' का भंग किये बटवारा नहीं हो सकता।

हमने अभी कहा कि 'संयुक्त-परिवार' में सब सदस्य अपनी आय को एक जगह एकत्रित कर देते हैं और इसी 'संगृहीत-द्रव्य' (Common pool) से परिवार के सब सदस्यों का ख़र्च चलता है, इसी से परिवार का मुखिया सब के शादी-ब्याह करता है। कई सदस्य ऐसे भी होते हैं जो कुछ कमा नहीं रहे होते। वे भी क्योंकि परिवार के सदस्य होते हैं अतः उनका भी ख़र्चा इसी 'संगृहीत-द्रव्य' से चलता है। परिणाम यह होता है कि कई सदस्य नकारे बने रहते हैं, उन्हें इस बात की फ़िक्र नहीं होती कि उन्हें भी कुछ करना है, उनके गृहस्थी

के कारोबार तो सब चलते ही रहते हैं। जहाँ 'संयुक्त-परिवार' के सदस्य एक ही जगह रहते हैं, सब की साझी ज़मीन होती है, सब को खेती-झाड़ी का कुछ-न-कुछ काम करना पड़ता है, वहाँ अगर कोई सदस्य अपने अतिरिक्त समय में, अतिरिक्त मेहनत से कुछ कमा-धमा लेता है, तो वह उसका निजी समझा जाता है। इसके अतिरिक्त पत्नी विवाह के समय जो ज़ेवर, जवाहरात, कपड़े आदि अपने पिता के घर से लाती है वह भी उसकी निजी सम्पत्ति 'स्त्री-धन' समझी जाती है।

देवी-देवताओं की पूजा के सम्बन्ध में 'संयुक्त-परिवार' की यह व्यवस्था है कि सब एक स्थान पर इकट्ठे होकर पूजा करते हैं, और यदि सब लोग एक जगह पर नहीं रह रहे, आजीविका के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर चले गये हैं, तो मूर्ति को वारी-वारी सब के पास भेजा जाता है, ताकि हरेक देवता की व्यक्तिरूप से पूजा कर सके।

'संयुक्त-परिवार' का आयु में जो सबसे बड़ा पुरुष-सदस्य होता है, वही 'संयुक्त-परिवार' की सब सम्पत्ति का 'प्रबन्धक' माना जाता है। घर के आन्तरिक-प्रबन्ध की देख-रेख की जिम्मेदारी उस की स्त्री की होती है। वैसे तो अविकसित-समाज में सभ्य-समाज की अपेक्षा ईमानदारी अधिक पायी जाती है, 'संयुक्त-परिवार' का प्रधान सबके साथ समान वर्ताव करता है, परन्तु जिसके हाथ में सारी सम्पत्ति हो उसका वेईमान हो जाना भी संभव है, उसका घर की साँझी सम्पत्ति को सिर्फ़ अपना समझ लेना कोई आश्चर्य की वात नहीं। कभी-कभी इस प्रमुख व्यक्ति का अन्य सदस्यों के साथ वर्ताव भी कठोर हो

जाता है। इन दोनों कारणों से 'संयुक्त-परिवार' में झगड़े उठ खड़े हुआ करते हैं, परन्तु प्रचलित प्रथा के अनुसार इस मुखिया की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं करता, जो वह कहता है वही दूसरे करते हैं, उसका कथन सबके लिए अनिवार्य तौर से शिरोधार्य होता है।

३. संयुक्त से वैय्यक्तिक परिवार की तरफ़

इस समय मानव-समाज की जिस दिशा की तरफ़ प्रगति हो रही है उसमें 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा टूटती नज़र आ रही है। लोग सामूहिक-जीवन बिताने के स्थान में वैय्यक्तिक-जीवन बिताने की तरफ़ बढ़ रहे हैं जिसका परिणाम यह हो रहा है कि अबतक जो परिवार 'संयुक्त' थे वे 'वियुक्त' हो रहे हैं, जो 'अविभक्त' थे वे 'विभक्त' हो रहे हैं, इसीलिए यह कहना असंगत न होगा कि वर्तमान-युग की दिशा 'संयुक्त-परिवार' (Joint family) से 'वैय्यक्तिक-परिवार' (Immediate family) की तरफ़ जा रही है। 'संयुक्त-परिवार' में चचा-ताऊ, भाई-भतीजे सब साथ रहते हैं, 'वैय्यक्तिक-परिवार' में पति-पत्नी तथा सन्तान—इन तीन ही का साथ रह जाता है। 'वैय्यक्तिक-परिवार' को 'सन्तान-केन्द्रिक' (Filiocentric) भी कहते हैं क्योंकि 'वैय्यक्तिक-परिवार' के सब लोगों की ज़बान पर रहता है कि बाल-बच्चों की परवरिश करें या सब को कमा कर खिलावें। वैसे तो 'संयुक्त-परिवार' के टूट-टूट कर 'वैय्यक्तिक-परिवार' बनने में अनेक कारण हैं, परन्तु उनमें मुख्य निम्न हैं :—

४. वैय्यक्तिक-परिवार बनने के कारण

(संयुक्त तथा वैय्यक्तिक के हानि-लाभ)

(१) **आर्थिक-कारण**—'संयुक्त-परिवार' के टूटने का सब से मुख्य कारण आर्थिक है। पहले जब 'संयुक्त-परिवार' का निर्माण हुआ था तब परिवार वस्तु का 'उत्पादन' (Production) भी करता था, 'उपभोग' (Consumption) भी करता था। अपने उपभोग के लिए जिस वस्तु की आवश्यकता थी वह परिवार में ही उत्पन्न कर ली जाती थी। कपड़े की जरूरत है तो घर में करघे लगे हुए थे, जितना कपड़ा चाहिए बना लिया। खाने की ज़रूरत है तो अपनी खेती में से जितना अनाज चाहिए मिल गया। अपनी ज़रूरत से जितना ज़्यादा होता था वह दूसरों को देकर उनके पास जो चीज़ होती थी वह बदले में ले ली। आर्थिक-व्यवस्था इतनी जटिल नहीं हुई थी जितनी आज हो गई है। घर ही 'गृहोद्योग' का केन्द्र था, और उसके लिए 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' अत्यन्त उपयुक्त थी। यह मानो एक बनी-बनाई कम्पनी थी, एक कारपोरेशन था। परन्तु युरोप में १८वीं सदी में अनेक आविष्कार हुए। १९वीं तथा २०वीं सदी में ये आविष्कार और बढ़े जिन का परिणाम कल-कारखाने लगना हुआ। पहले करघे पर जितना काता-बुना जाता था अब मशीनों के ज़रिये आठ-दस गुना काता-बुना जाने लगा। इसे 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) कहते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ-साथ औद्योगिक-क्रांति का रूप उग्र होता चला गया। क्योंकि घर की अपेक्षा घर के बाहर कल-कारखाने में उद्योगों से अधिक काम

हो सकता था अतः जितने उद्योग घर में केन्द्रित थे वे १९वीं-२०वीं सदी में औद्योगिक-क्रांति के कारण घर से बाहर जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि घर केवल 'उपभोग का केन्द्र' (Consuming centre) रह गया, 'उत्पादन का केन्द्र' (Producing centre) न रहा। 'उत्पादन के केन्द्र' के रूप में 'संयुक्त-परिवार' का विशेष महत्व था क्योंकि सब लोग मिलकर काम करते थे। जब परिवार 'उत्पादन का केन्द्र' ही न रहा, तब उसका टूट जाना स्वाभाविक था। 'औद्योगिक-क्रांति' का यह परिणाम हुआ कि अनेक व्यक्तियों का काम मशीन के ज़रिये एक व्यक्ति करने लगा। इससे बेकारी और बेरोज़-गारी का बढ़ना स्वाभाविक था। तब लोग क्या करते? कार-ख़ाने हर जगह तो थे नहीं। बड़े-बड़े शहरों में कारख़ाने लगे थे। लोग पेट की ख़ातिर शहरों में जाने लगे। शहरों में रोटी-पानी का क्या प्रबन्ध हो। वे अपने बाल-बच्चों को भी बुला लेते थे। जब घर में परिवार के सदस्य न रहे, तो 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा का टूटना स्वाभाविक हो गया।

(२) **घरेलू-झगड़े**—'संयुक्त-परिवार'-प्रथा टूटने के जिन आर्थिक-कारणों का ऊपर निर्देश किया गया है उनके अतिरिक्त इस प्रथा के टूटने का दूसरा कारण घरेलू-झगड़े हैं। इस प्रकार के परिवार में ३०–४० सदस्य तो होते ही हैं। बंगाल के एक 'संयुक्त परिवार' में ५०० के लगभग सदस्य गिने गये थे। इस विषय का विस्तृत अध्ययन करने के लिए हमें कुछ परिवारों को चुन कर उनकी सब अवस्थाओं की क्रियात्मक जानकारी हासिल करनी चाहिए। यह गवेषणा का एक दिलचस्प विषय है। इतने

व्यक्तियों के एक-साथ रहने, उनके आपस के सामाजिक-व्यवहार में समय-समय पर मनोमालिन्य हो जाना कोई अचंभे की बात नहीं है। ऐसे परिवारों में प्रायः स्त्रियों से झगड़े उठा करते हैं। जो लोग कमाऊ-धमाऊ होते हैं उनकी स्त्रियाँ दूसरों को ताने दिया करती हैं, उन्हें अपने पति के कमाऊ होने पर गर्व होता है, वे नहीं चाहतीं कि उनका पति कमाता रहे और दूसरे बैठकर खाते रहें। कभी-कभी 'संयुक्त-परिवार' का मुखिया रुपये-पैसे की गड़बड़ कर जाता है, पैसे अपने काम में उड़ा देता है। ये सब कारण जब इकट्ठे हो जाते हैं तब घरेलू-झगड़े उग्र रूप धारण कर लेते हैं और 'संयुक्त-परिवार' टूट कर 'वैय्यक्तिक-परिवार' बन जाते हैं।

(३) नवीन-विचार—इस बीसवीं सदी में मानव-समाज जो प्रगति कर रहा है उसके प्रभाव में आकर भी लोग 'संयुक्त-परिवार' में बंधे रहना नहीं पसन्द करते। जैसे 'संयुक्त-परिवार' प्राचीन काल से चला आ रहा है, वैसे इसका विरोध भी प्राचीन-काल से ही होता आया है। शुक्र-नीति में लिखा है:—

सदारप्रौढपुत्रान्द्राक् श्रेयोऽर्थी विभजेत्पिता।
सदारा भ्रातरः प्रौढाः विभजेयुः परस्परम्॥

अर्थात्, युवा और विवाहित पुत्र अथवा भाई कल्याण के लिए परस्पर गृहस्थी को बाँट लें और जुदा हो जायँ। जो लोग नवीन विचारों से प्रभावित होकर 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा का विरोध करते हैं, वे निम्न युक्तियाँ देते हैं:—

(क) 'संयुक्त-परिवार' में बच्चों के व्यक्तित्व का उचित विकास नहीं हो पाता। बड़ों के बच्चों को बड़ा समझा जाता

है, छोटों के बच्चों को छोटा । परिणाम यह होता है कि घुटी हुई परिस्थिति में परवरिश पाने के कारण कई बच्चों में 'हीनता की भावना' (Inferiority complex) उत्पन्न हो जाती है। घर में इतने व्यक्तियों के होने के कारण सब बच्चों को जितना दूध चाहिये, खाना चाहिये, वह भी नहीं मिल पाता। यह युग बालकों का युग है। जिस प्रथा में बालक को अपने विकास का पूरा मौका न मिले वह प्रथा कैसे रह सकती है। 'वैय्यक्तिक-परिवार' में तो एक तरह से परिवार का केन्द्र ही बालक होता है । माता-पिता के सम्पूर्ण प्रेम की परिधि का वही एक बिन्दु होता है अतः आज के सामाजिक-विकास में 'वैय्यक्तिक-परिवार' का महत्व बढ़ता जा रहा है ।

(ख) बच्चे के अलावा व्यक्ति को भी अपनी अनेक इच्छाओं को 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा में दवाना पड़ता है। परिवार जिस बात को चाहे वही हो, व्यक्ति जिसे चाहे वह न हो—इस बात को आज का व्यक्तिवादी मनुष्य पसन्द नहीं करता। वह चाहता है, वह जो चाहे करे। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपने को 'संयुक्त-परिवार' से अलग कर ले। इससे भी 'संयुक्त-परिवार' टूट रहा है।

(ग) पति-पत्नी आज के युग में एक-दूसरे के अधिक निकट रहना चाहते हैं। संयुक्त-परिवार में पति-पत्नी को एक-दूसरे के निकट का जीवन व्यतीत करने का बहुत कम अवसर मिलता है। दिन को वे पास-पास बैठकर बात नहीं कर सकते, रात को ही मिलते हैं। एक तरह से 'संयुक्त-परिवार' में पारिवारिक-जीवन का अभाव-सा है, सामाजिक-जीवन है वह।

इस प्रकार के बंधनों को जो 'संयुक्त-परिवार' में पाये जाते हैं आज का वैय्यक्तिकता का उपासक मानव पसन्द नहीं करता।

(घ) 'संयुक्त-परिवार' में निकम्मा बैठने की आदत बढ़ जाती है। आज के संघर्षमय संसार में बेकार को बैठे-बैठे कौन रोटी खिला सकता है, इसलिए भी 'संयुक्त-परिवार' टूट रहा है।

(ङ) 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा से बाल-विवाह को प्रोत्साहन मिलता है। वैसे तो जिसका विवाह हो जाय, उसको कमाना पड़े तो वह सोच-समझ कर शादी करे, परन्तु 'संयुक्त-परिवार' में तो बिना कमाये रोटी मिलती है इसलिए छोटे बच्चों की शादी पर जो स्वाभाविक आर्थिक रुकावट हो सकती है वह हट जाती है। बाल-विवाह के दुष्परिणामों को तो सब जानते ही हैं। 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा के विरोधियों का कहना है कि बाल-विवाह को रोकने के लिए भी 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा को तोड़ देना लाभदायक है।

हमने देखा कि 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा की क्या हानियाँ हैं, और यह क्यों टूट रही है। तो क्या इस प्रथा के कुछ लाभ नहीं हैं? इस प्रथा के पृष्ठ-पोषक इसके अनेक लाभ बतलाते हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं:—

(क) **पारिवारिक-एकता** — 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा परिवार में एकता बनाये रखती है। परिवार के कुछ विधि-विधान होते हैं, उसके कुछ रस्मो-रिवाज़ होते हैं। परिवारों के अलग-अलग हो जाने से लोग सब-कुछ भूल जाते हैं, नई सन्तति तो पुरानी किसी बात को याद ही नहीं रखती, अपने

निकट के सम्बन्धियों तक को नई औलाद नहीं पहचानती। साथ-साथ रहने से एक-दूसरे की शर्म रहती है, लिहाज़ रहता है, शर्म-लिहाज़ किसी का न रहे, तो मनुष्य सच्चरित्रता से भी भ्रष्ट हो जाता है। बम्बई, कलकत्ता आदि में कई ऐसे परिवार हैं जो अपने नाती-रिश्तेदारों से दूर रहते हैं, उन्हें उनका कोई रिश्तेदार नहीं जानता, वे अपने किसी रिश्तेदार को नहीं जानते। शराब पीते, मस्त-मौला अपना दिन काटते हैं। उन्हें सन्मार्ग दिखाने वाला कोई नहीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'संयुक्त-परिवार' से जो अलग होगा उसका यही हाल होगा, इसका इतना ही अभिप्राय है कि परिवार के अन्य सदस्यों की देख-रेख का बन्धन मनुष्य को पथ-भ्रष्ट होने से रोकता है।

(ख) **नियन्त्रण**—'संयुक्त-परिवार'-प्रथा मनुष्य को नियम में रखती है, बन्धन में रखती है। मनुष्य बन्धन नहीं चाहता—यह ठीक है, परन्तु कभी-कभी बन्धन मनुष्य के लिए आवश्यक हो जाता है। 'वैय्यक्तिक-परिवार' में मनुष्य को अपने को बन्धन में रखने के लिये अपने को अपनी ज़िम्मेदारी पर छोड़ना पड़ता है, उस पर से सामाजिक-बन्धन उठ जाता है। अपनी ज़िम्मेदारी अपने पर कितने लोग ले सकते हैं? सर्व-साधारण को तो अपने नियन्त्रण के लिए दूसरे पर ही छोड़ना पड़ता है।

(ग) **बेकारी में सहायक**—वर्तमान-युग की आर्थिक अवस्थाओं में कौन कब बेकार हो जायगा, इसे कौन कह सकता है? 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा बेकारी में अपने सदस्यों की सहायक

सिद्ध होती है, परिवार के दूसरे सदस्य अपने सगे-संबंधी के काम आते हैं। अमीर लोगों की बात तो आज दूसरी है, वे एक दिन से ज़्यादा किसी को अपने घर नहीं रख सकते, परन्तु ग़रीब लोग जिनमें 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा के प्रति अभी तक आदर है अपने रिश्तेदारों को महीनों तक अपने पास रखते हैं, जबतक उन्हें नौकरी नहीं मिल जाती तब तक यथाशक्ति उन की सहायता करते हैं।

(घ) **स्त्रियों की सहायक**—स्त्रियों की तो इस प्रथा से विशेष सहायता होती है। ख़ास कर अपने समाज में जो विधवायें शादी-ब्याह नहीं करतीं उनका त्राण 'वैय्यक्तिक-परिवार' में नहीं हो सकता, 'संयुक्त-परिवार' में उनका भरण-पोषण भी औरों के साथ-साथ चलता रहता है।

(ङ) **वृद्धों की सहायक**—मनुष्य बूढ़ा होकर ख़ुद तो कमा नहीं सकता, आजकल के 'वैय्यक्तिक-परिवार' के नौजवान अपने बूढ़े माँ-बाप की पर्वा नहीं करते, वे कहते हैं अपने बाल-बच्चों को खिलायें या बूढ़े माँ-बाप को खिलायें। जिन माता-पिता ने उनको पाल-पोसकर बड़ा किया उनकी तरफ़ उनका ध्यान नहीं जाता। ऐसी अवस्था में या तो राष्ट्र अपने ऊपर बूढ़ों की परवरिश की ज़िम्मेदारी ले, या 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा द्वारा उन का भरण-पोषण हो, तीसरा रास्ता उनका रो-रोकर अपना बुढ़ापा काटने के सिवा क्या रह जाता है ?

(च) **निःस्वार्थपरता**—'वैय्यक्तिक-परिवार'-प्रथा व्यक्ति को स्वार्थी बना देती है, 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा उसे निःस्वार्थी, अपने को छोड़ कर दूसरों को भी अपना समझना सिखाती है।

ऊपर 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा तथा 'वैय्यक्तिक-परिवार'-प्रथा के संबंध में जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि दोनों के अपने-अपने लाभ और अपनी-अपनी हानियाँ हैं। इस समय समाज की दिशा 'संयुक्त' से 'वैय्यक्तिक' परिवार की तरफ़ जा रही है, परन्तु समाज के कर्णधारों को दोनों का इस प्रकार का समन्वय करना चाहिए जिससे दोनों के गुण रह जाँय, अवगुण नष्ट हो जाँय।

६

बचपन का 'व्यक्तित्व' पर प्रभाव

(INFLUENCE OF CHILDHOOD ON PERSONALITY)

१. 'व्यक्तित्व' क्या है ?

जब हम किसी के 'व्यक्तित्व' की प्रशंसा करते हैं, तब 'व्यक्तित्व' से हमारा क्या अभिप्राय होता है ? हम कहते हैं, इसका 'व्यक्तित्व' प्रभावोत्पादक है, इसका 'व्यक्तित्व' कुछ है ही नहीं, अर्थात् 'है' तो सही, परन्तु किसी काम का 'नहीं'। यह सब-कुछ कहते हुए 'व्यक्तित्व' से हमारा क्या अभिप्राय होता है ?

सामाजिक-मनोविज्ञान की दृष्टि से 'व्यक्तित्व' क्या है— 'व्यक्तित्व' मनुष्य के कुछ गुणों अथवा अवगुणों का नाम है । अच्छे गुण हैं, तो अच्छा व्यक्तित्व, बुरे गुण हैं, तो बुरा व्यक्तित्व। परन्तु गुण किसके ? किसी पदार्थ के, या किसी क्रिया के ? जब हम कहते हैं कि लक्ष्मण का 'व्यक्तित्व' प्रशंसनीय है, तो क्या हम लक्ष्मण-नाम के 'पदार्थ' की प्रशंसा कर रहे होते हैं, या लक्ष्मण की जो 'क्रिया' है, लक्ष्मण जो-कुछ करता है, उस 'करने' की प्रशंसा कर रहे होते हैं ? ज़रा-सा विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि जब हम लक्ष्मण की प्रशंसा कर रहे होते हैं, उसके 'व्यक्तित्व' को सराह रहे होते हैं, तब हम लक्ष्मण जो-कुछ करता है, उसका जो 'व्यवहार' है, उसकी प्रशंसा कर रहे

होते हैं। लक्ष्मण के किसी काम को 'करने के ढंग' या उसके 'व्यवहार' की प्रशंसा ही लक्ष्मण के 'व्यक्तित्व' की प्रशंसा है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'व्यक्तित्व' की प्रशंसा, 'व्यक्तित्व' के गुणों का वर्णन 'पदार्थ' का वर्णन नहीं है, व्यक्ति की क्रिया के गुणों का वर्णन है, वह व्यक्ति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कैसा 'व्यवहार' करता है—उसका वर्णन है। इस दृष्टि से 'व्यक्तित्व' के जितने लक्षण हैं, वे 'नाम-विशेषण' (Adjectives) न होकर 'क्रिया-विशेषण' (Adverbs) होते हैं। लक्ष्मण का व्यक्तित्व 'प्रभावशाली' है—इसका अर्थ यह हुआ कि लक्ष्मण का 'व्यवहार' प्रभावशाली है, अर्थात् वह जो-कुछ करता है, उसका असर हुए बग़ैर नहीं रहता। किसी प्रकार की परिस्थिति होने पर मनुष्य जिस प्रकार का 'व्यवहार' करता है, वही उसका 'व्यक्तित्व' है। हमें पब्लिक-सर्विस-कमीशन ने इन्टरव्यू के लिये बुलाया। हम इतने बड़े आदमियों को देखकर काँप उठे, घबड़ा गये, इस परिस्थिति की प्रतिक्रिया हमारे ऊपर घबड़ाहट की हुई, और हमने घबड़ाहट का ही 'व्यवहार' करना शुरू कर दिया। इसके विपरीत एक दूसरा बालक है। वह इन्टरव्यू के लिये जाता है। ज़रा नहीं घबड़ाता। दोनों के 'व्यक्तित्व' में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। एक का 'व्यक्तित्व' घबड़ाने वाला, दूसरे का स्थिर। दूसरे शब्दों में इसे 'स्वभाव' भी कह सकते हैं—'स्वभाव' अर्थात् 'स्व-भाव'—'वह जो-कुछ भी करता है'। यह स्पष्ट हो गया कि 'व्यक्तित्व' हमारे सामाजिक-व्यवहार के उन गुणों का नाम है जो किसी भी परिस्थिति के उत्पन्न होने पर हमारी क्रिया में प्रकट होने लगते हैं। हमारी क्रिया, हमारे व्यव-

हार के ये गुण अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी। अच्छे होंगे तो हमारा 'व्यक्तित्व' अच्छा कहा जायगा, उत्कृष्ट कहा जायगा, बुरे होंगे तो हमारा 'व्यक्तित्व' बुरा कहा जायगा, निकृष्ट कहा जायगा।

'व्यक्तित्व' के प्रकट करने के लिए जितने भी गुण हैं, वे प्रायः द्वन्द्वों में रहते हैं। कोई ख़ुश रहनेवाला है तो कोई दुःखी रहनेवाला है, कोई हँसता है तो कोई रोता है, कोई उदार है तो कोई कंजूस है, कोई हुकूमत करनेवाला है तो कोई दब्बू स्वभाव का है। ख़ुश रहना, हँसना, उदारता—ये-सब गुण हैं, स्वभाव हैं, इनसे एक प्रकार का 'व्यवहार' होता है; दुःखी रहना, रोना, कंजूसी भी स्वभाव हैं, ये-सब अवगुण हैं, दूसरे प्रकार के 'व्यवहार' हैं। परिस्थिति उपस्थित होनेपर, पहले प्रकार के गुण प्रदर्शित करनेवाला, पहले प्रकार के 'व्यवहार' करनेवाला 'उत्कृष्ट-व्यक्तित्व' वाला कहाता है, अवगुण प्रदर्शित करनेवाला, दूसरे प्रकार का व्यवहार करने वाला 'निकृष्ट-व्यक्तित्व' वाला कहाता है। आधार-भूत बात यह है कि 'व्यक्तित्व' का प्रारंभ हमारी 'क्रिया' से होता है, हमारे 'व्यवहार' से, 'स्वभाव' से होता है, और क्योंकि हर बात में हमारे 'व्यवहार' के दो पहलू हुआ करते हैं, इसलिए 'व्यक्तित्व' को भी दो भागों में बाँटा जाता है—मेहनती-आरामपसन्द; बुद्धिमान्-मूर्ख; कंजूस-फ़िज़ूल-खर्च; मित्रस्वभाव-शक्की तबीयत—आदि-आदि।

परन्तु यह समझना कि 'व्यक्तित्व' के दो ही सिरे हैं—मेहनती-आरामपसन्द, कंजूस-फ़िज़ूलखर्च आदि—यह ग़लत है। ऐसे लोग तो बहुत थोड़े होते हैं जो इस उरले सिरे या उस परले

सिरे पर होते हैं, अधिकांश व्यक्ति तो बीच में होते हैं। अगर कोई मेहनती होगा तो यह नहीं कि आरामपसन्द नहीं होगा, आराम की अपेक्षा मेहनत अधिक करता होगा; इसी प्रकार अगर कोई आरामपसन्द होगा तो यह नहीं कि मेहनत बिल्कुल नहीं करता होगा, मेहनत की अपेक्षा आराम ज़्यादा करता होगा। मेहनती तथा आरामपसन्द आदि—इस प्रकार के व्यक्तित्व के गुणों का अनेक द्वित्वों में विभाग 'व्यक्तित्व का गुण-विभाग' (Distribution of Personality-traits) कहाता है, परन्तु अगर वह मेहनती है तो कितना, थोड़ा या बहुत, आरामपसन्द है तो कितना, थोड़ा या बहुत—इस प्रकार का उन गुणों का माप 'व्यक्तित्व का विस्तार' (Dimension of Personality-traits) कहाता है।

जिस प्रकार 'व्यक्तित्व' के गुणों को द्वन्द्वों में, दो-दो के जोड़ों में बाँटा जाता है, इसीप्रकार इसका एक और विभाग जुंग (Jung) महोदय ने किया है—वह है 'व्यक्तित्व' को 'अन्तर्मुखी' (Introvert) तथा 'बहिर्मुखी' (Extravert) वृत्तियों में बाँटना। 'अन्तर्मुखी' तथा 'वहिर्मुखी' भी सापेक्ष शब्द हैं। यह सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति बिल्कुल 'अन्तर्मुखी' हो, 'वहिर्मुखी' बिल्कुल न ही हो, न यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति बिल्कुल 'वहिर्मुखी' हो, 'अन्तर्मुखी' बिल्कुल न हो। इसी कारण कुछ मनोवैज्ञानिकों ने एक तीसरा शब्द घड़ा है—'उभय-वृत्ति' (Ambivert)। मनुष्य का 'अन्तर्मुखी' तथा 'बहिर्मुखी'-व्यवहार भी सामाजिक दृष्टि से किया जाता है। 'अन्तर्मुखी'-व्यक्ति दूसरों की बाबत इतना नहीं सोचता जितना अपनी

बाबत सोचता है। वह सभा-सोसाइटी से बचता है, दूसरों से मेल-जोल नहीं बढ़ाता। जलसों में जाता है तो छिपकर कहीं बैठ रहता है, किसी को उसके आने का पता भी नहीं चलता। संसार से मानो विरक्त-सा रहता है, निवृत्तिमार्ग ही उसका मार्ग है। 'बहिर्मुखी'-व्यक्ति लोगों से मिलता-जुलता है, अपनी अपेक्षा दूसरों की चर्चा ज़्यादा करता है, हँसी-मज़ाक में दिन निकाल देता है, अकेला रहना पसन्द नहीं करता, हर समय कई लोगों से घिरा रहता है, सभा-सोसाइटियों में सबसे आगे जाकर बैठता है, मन्त्री या प्रधान कुछ-न-कुछ बना रहता है, कुछ काम न भी करे तो भी लोग उसे पदाधिकारी चुना ही करते हैं। खूब रुपया कमाता है, उद्योग-धन्धे जारी करता है, शादी-ब्याह में रुपया खर्च करता है, सब सामाजिक उत्सवों में उसकी हँसी का ठहाका सुनाई देता है, प्रवृत्ति-मार्ग उसका मार्ग है।

वैय्यक्तिक-मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यक्तित्व क्या है— हमने अबतक 'व्यक्तित्व' के जिस पहलू पर प्रकाश डाला उसका सम्बन्ध व्यक्ति के 'सामाजिक-व्यवहार' से है। दूसरों के सम्पर्क में आने पर व्यक्ति की जो सामाजिक-प्रतिक्रिया होती है, जिन गुणों को वह प्रकट करता है, उन्हें 'व्यक्तित्व' कहते हैं—यह हमने कहा। परन्तु व्यक्ति में कई गुण ऐसे भी हो सकते हैं जिनका समाज से कोई सम्बन्ध न हो, वे व्यक्ति के अपने निज के गुण हों, बाहर से आने के स्थान में उसके भीतर से उत्पन्न हुए हों। ये गुण व्यक्ति में समाज के सम्पर्क में आने की प्रतिक्रिया के रूप में न होकर उसके अपने अन्दर के गुण होते हैं, और इन्हें भी 'व्यक्तित्व के गुण' (Traits of Personality) कहा

जाता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट है, लंबा-तडंगा है, बड़ी-बड़ी आँखें, सुडौल शरीर, गोरा चेहरा, जो उसे देखता है उसकी तरफ़ आकृष्ट हो जाता है। ये गुण उसे समाज से तो नहीं मिले, उसके अपने निजी शारीरिक गुण हैं। इसी प्रकार व्यक्ति की रुचि, प्रवृत्ति, उसका मूल्यांकन, उसके अपने विचार—ये-सब भी प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने हो सकते हैं। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि व्यक्ति की रुचि, मूल्यांकन तथा विचारों पर सामाजिक प्रभाव नहीं पड़ता। पड़ता है और बड़ा भारी पड़ता है। कुछ अंश तक यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति की रुचि, प्रवृत्ति, मूल्यांकन तथा विचार सामाजिक उपज ही हैं, परन्तु फिर भी एक ही तरह के समाज में हर व्यक्ति की रुचि-प्रवृत्ति-मूल्यांकन-विचार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति की इस भिन्नता को देखकर ही 'वैय्यक्तिक-मनोविज्ञान' (Individual Psychology) का जन्म हुआ है। 'वैय्यक्तिक-मनोविज्ञान' का यही अर्थ है कि व्यक्ति में सब-कुछ समाज से ही नहीं आता, व्यक्ति का अपना भी बहुत-कुछ होता है जो वह जन्म से लेकर आता है, भले ही वह पिछले जन्म से न लाकर माता-पिता के रज-वीर्य से लाता हो, परन्तु इन गुणों को वह समाज से न लाकर जन्म से अपने साथ लाता है।

इस प्रकार 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) के आधार पर हमने यह देखा कि 'व्यक्तित्व' मनुष्य की समाज के प्रति उस प्रतिक्रिया का नाम है जिसमें समाज द्वारा प्राप्त किये हुए उसके गुण-अवगुण प्रकट होते हैं। इसके साथ ही 'वैय्यक्तिक-मनोविज्ञान' (Individual Psychology)

के आधार पर हमने यह देखा कि इस 'व्यक्तित्व' में सामाजिक-व्यवहार के अलावा, अर्थात् बाहर से आनेवाले गुणों के अलावा, मनुष्य के भीतर से, उसके अपने भी कुछ निजी गुण होते हैं, जो प्रकट होते हैं। ये भीतर के गुण व्यक्ति के शारीरिक-गुण हो सकते हैं, और शारीरिक-गुणों के अलावा उसकी अपनी भिन्न-भिन्न रुचि, प्रवृत्ति, भिन्न-भिन्न वस्तुओं के विषय में उसका निजी दृष्टि-कोण, उसका मूल्यांकन तथा निजी विचार हो सकते हैं। इन सब वाह्य तथा भीतरी—शारीरिक तथा मानसिक—गुणों-अवगुणों को 'व्यक्तित्व' कहते हैं।

२. बचपन में 'व्यक्तित्व' कैसे बनता है ?

(क) प्राणि-शास्त्रीय प्रभाव

हमने देखा कि 'व्यक्तित्व' क्या है ? परन्तु यह 'व्यक्तित्व' बनता कैसे है ? 'वैय्यक्तिक-मनोविज्ञान' (Individual Psychology) का कहना तो यह है कि व्यक्ति वंश-परंपरा द्वारा, माता-पिता के रज-वीर्य से, जो गुण, जो 'संस्कार', जो 'नैसर्गिक-प्रवृत्तियाँ' (Instincts), जो 'प्रेरक' (Drives) लाता है, वे सब के भिन्न-भिन्न होते हैं। इस आधार-भूत 'वैय्य-क्तिक-भिन्नता' का, समाज के सम्पर्क में आने पर भी, हर व्यक्ति में भिन्न-भिन्न विकास होता है। यह जन्मगत वैय्यक्तिक-भिन्नता शारीरिक भी हो सकती है, मानसिक भी हो सकती है। शारीरिक-वैय्यक्तिक-भिन्नता को हम 'व्यक्तित्व' का 'प्राणि-शास्त्रीय या शरीरिक घटक-तत्व' (Biological or Physiological factor of Personality) कह सकते हैं। 'प्राणि-शास्त्र' (Biology) के नियम किस प्रकार 'जेनीज़'

(Genes) तथा 'क्रोमोसोम्स' (Chromosomes) द्वारा 'व्यक्तित्व' का निर्माण करते हैं इसके लिये 'वंश-परंपरा' (Heredity) के विषय का विद्यार्थी को अध्ययन करना चाहिये। यह विषय श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल की पुस्तक 'शिक्षा-मनोविज्ञान' में विस्तार से दिया हुआ है।

'व्यक्तित्व' के निर्माण में 'प्राणि-शास्त्रीय' तत्वों का वर्णन करते हुए शरीर के भीतर काम करनेवाली 'ग्रन्थियों' (Glands) का ज़िक्र कर देना आवश्यक है। शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न 'ग्रन्थियाँ' हैं। मस्तिष्क में 'पिच्युटरी-ग्रन्थि' (Pituitary gland) है। गले में टेंटुए के पास 'थॉयरायड' (Thyroid) और उसीके पास 'पैराथॉयराइड' (Parathyroid), छाती के ऊपर के स्थान में 'थाईमस' (Thymus) तथा जननप्रदेश में 'प्रजनन-ग्रन्थियाँ' (Sex glands) हैं। जिन ग्रन्थियों का हमने वर्णन किया वे 'एन्डोक्राइन ग्लैंड' (Endocrine glands) कहाती हैं और साथ ही ये 'प्रणालिका-रहित-ग्रन्थियाँ' (Ductless glands) भी कहाती हैं। इनके अतिरिक्त 'प्रणालिका-सहित-ग्रन्थियाँ' भी हैं, परन्तु उनसे हमें यहाँ कोई मतलब नहीं। शरीर-रचना-विज्ञों का कथन है कि 'प्रणालिका-रहित-ग्रन्थियों' में से एक 'अन्तःस्राव' (Internal secretion) निकलता है, इसे 'हॉरमोन' (Hormone) कहते हैं। इस 'हॉरमोन' का मनुष्य के 'व्यक्तित्व' पर बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

(१) जिस व्यक्ति की 'थॉयराइड'-ग्रन्थि बढ़ जाय, वह पतला हो जाता है, उसके शरीर में सौन्दर्य और कोमलता आ जाती

है। वह क्रियाशील हो जाता है, जीवन से भरपूर, झट-से उत्तेजित हो जाने वाला और ज़रा-सी बात से चिन्तित हो जाता है। उसकी विचार-शक्ति तीव्र होती है, झट-से बात को समझता है। 'थायराइड'-ग्रन्थि का अगर ठीक-से विकास न हो पाये, तो मनुष्य मोटापे की तरफ़ बढ़ जाता है, आकृति में रूखापन आ जाता है, आरामपसन्द और सुस्त हो जाता है। शरीर की शक्तियों का जब चौमुखा ह्रास हो रहा हो, तब 'थायराइड' के सत से डाक्टर लोग शरीर को शक्ति पहुँचाते हैं।

(२) अगर मेंढक के छोटे-छोटे बच्चों को 'एड्रेनेलीन' खाने को दी जाय, तो उनमें से मादा कोई नहीं बन पाता, सब नर बनते हैं। इसीलिए अगर 'एड्रीनल'-ग्रन्थि बढ़ जाय, तो मनुष्य तो लड़ाकू हो जाता है, और स्त्री पुरुष-जैसी हो जाती है। इन लोगों को थकावट बहुत कम आती है। इस ग्रन्थि का पूर्ण विकास न हो, तो पुरुष स्त्री जैसा, और स्त्री और भी दब्बू बन जाती है। ये ग्रन्थियाँ पेट में गुर्दों के पास होती हैं।

(३) पुरुष तथा स्त्री में 'प्रजनन-ग्रन्थियाँ' (Sex glands) होती हैं जिनके 'बहिःस्राव' द्वारा सन्तानोत्पत्ति तथा 'अन्तःस्राव' द्वारा शरीर के भिन्न-भिन्न अंग भिन्न-भिन्न प्रकार से पुष्ट होते हैं। पशुओं में ऐसे परीक्षण किये गये हैं जिनमें नर की 'जनन-ग्रन्थि' मादा में और मादा की नर में लगा दी गई। परिणाम यह हुआ कि नर की शक्ल मादा की-सी, और मादा की नर की-सी हो गई। अगर इन 'ग्रन्थियों' का कार्य बढ़ जाय, तो व्यक्ति में विषय-वासना बढ़ जाती है; ये 'ग्रन्थियाँ, अगर अविक-सित रहें, तो प्राणी का प्रजनन की तरफ़ ध्यान ही नहीं जाता।

(४) हृदय के कुछ ऊपर छाती की हड्डी के पास 'थायमस-ग्रन्थि' पायी जाती है। यह 'प्रजनन-ग्रन्थियों' के शीघ्र विकास को रोकती है, और किशोरावस्था आने पर समाप्त हो जाती है। एक प्रकार से, प्रकृति का मनुष्य पर नियन्त्रण रखने के लिए यह पहरेदार है। जव इसकी आवश्यकता नहीं रहती तव प्रकृति इसे हटा लेती है। 'थायमस-ग्रन्थि' वहुत वढ़ जाय, तो पुरुष में पुरुषत्व की कमी आ जाती है, अगर घट जाय, तो समय से पहले ही 'परिपक्वता' (Precociousness) आ जाती है।

(५) खोपड़ी के ठीक वीच में आध इंच के परिमाण की 'पिच्युटरी'-ग्रन्थि है। इसके अगले भाग के स्राव से हड्डियों का निर्माण होता है, और पिछले भाग के स्राव से शरीर में शर्करा का नियमन, चर्बी का उत्पादन, और शरीर के भीतरी अंगों का नियन्त्रण होता है। अगर यह 'ग्रन्थि' वहुत वढ़ जाय, तो भारी-भरकम हड्डियों का ढाँचा उठ खड़ा होता है, दुनिया पर राज करने वाला, ज्ञान-शक्ति से काम लेनेवाला। अगर इस 'ग्रन्थि' का विकास न हो, तो इन गुणों की कमी हो जाती है।

(ख) सामाजिक-प्रभाव

'प्राणि-शास्त्रीय', अर्थात् 'वंश-परंपरा'-सम्वन्धी कारणों के अलावा 'व्यक्तित्व' के निर्माण में सवसे वड़ा कारण सामाजिक-परिस्थिति है। वंश-परंपरा तो भीतरी कारण है, इस भीतरी कारण की अपेक्षा वचपन में वाहर की सामाजिक-परिस्थिति का 'व्यक्तित्व' के निर्माण में वहुत वड़ा हाथ है। 'व्यक्तित्व' का निर्माण करने वाले सामाजिक-परिस्थिति के इन वाह्य कारणों को हम 'व्यक्तित्व के सामाजिक घटक-तत्व' (Social factors

of Personality) कह सकते हैं।

३. माता-पिता का 'व्यक्तित्व'-निर्माण पर प्रभाव

बचपन में 'व्यक्तित्व' का निर्माण करनेवाले ये सामाजिक घटक-तत्त्व, ये सामाजिक-कारण क्या हैं? बच्चा परिवार में जन्म लेता है, इसलिए उसके 'व्यक्तित्व' के निर्माण में सबसे पहला प्रभाव तो परिवार का पड़ता है। परिवार में भी सबसे पहले वह माता-पिता के सम्पर्क में आता है। यह स्पष्ट है कि बालक का 'व्यक्तित्व' वैसा-कुछ बन जाता है जैसा माता-पिता उसे बनाना चाहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बालक जन्म से अपने साथ कुछ 'नैसर्गिक-प्रवृत्तियाँ' (Instincts), कुछ 'प्रेरक' (Drives) लाता है। अगर इन 'नैसर्गिक-प्रवृत्तियों', इन 'प्रेरकों' को माता-पिता खुला छोड़ दें, उन को अपनी मनचाही दिशा न दें, तो बालक का 'व्यक्तित्व' वह नहीं बन पायेगा, जो उसे उसके माता-पिता बनाना चाहते हैं। माता-पिता के सम्पर्क में आकर बालक के सामने 'व्यक्तित्व' का एक नक्शा खड़ा होता है। माता-पिता चाहते हैं कि बालक 'ऐसा' बने। जैसा वे बालक को बनाना चाहते हैं वैसा वह बनने का प्रयत्न करता है, इसलिए प्रयत्न करता है क्योंकि वैसा बनने में ही उसे माता-पिता से वाह-वाह की आशा होती है। जो माता-पिता बालक की तरफ़ कुछ ध्यान नहीं देते उनके बालक अपने चारों तरफ़ के समाज में जिस 'व्यक्तित्व' की प्रशंसा होते देखते हैं, वैसा बनने का प्रयत्न करते हैं। माता-पिता के 'आदर्श-व्यक्तित्व' की कल्पना हर समाज में भिन्न-भिन्न होती है, और उसीके अनुसार हर समाज के बालक का 'व्यक्तित्व' भिन्न-भिन्न प्रकार के आदर्श को जीवन में

उतारने का प्रयत्न होता है। यह तो आदर्श की बात हुई। आदर्श के बिना भी हर समाज में अपनी ही कुछ धारणाएँ होती हैं, अपना चलन और अपना व्यवहार होता है। माता-पिता के ये चलन, ये सामाजिक-व्यवहार, उनकी अपने घर में प्रचलित ये रूढ़ियाँ उनके लिए सब-कुछ होती हैं। अगर जात-बिरादरी के बाहर रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं करना, तो नहीं करना, इसलिए नहीं करना क्योंकि हमारे यहाँ यह चलन नहीं है। अगर विधवा का विवाह हमारे समाज में नहीं होता, तो नहीं करना। ये-सब चलन, समाज के ये-सब व्यवहार हर माता-पिता अपनी सन्तान के जीवन में उतार देना चाहते हैं। माता-पिता के लिए अपने समाज के ये व्यवहार 'व्यक्तित्व के आधार-तत्व' (Basic Personality Types) बन चुके हैं। उनके अनुकूल बालक का 'व्यक्तित्व' बनता है तो ठीक, नहीं बनता तो वे समझते हैं कि लड़का उल्टे रास्ते पर चल पड़ा। 'व्यक्तित्व' के इन आधार-भूत तत्वों को बालक जीवन के प्रारंभ से ही आत्मसात् करने लगता है, अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाने लगता है। इन्हीं विचारों में उसका लालन-पालन होता है अतः वह इनसे भिन्न जा ही नहीं सकता, ये चलन, ये व्यवहार और ये विचार उसके 'व्यक्तित्व' में मानो समा जाते हैं। समाज-शास्त्रियों का यह कहना है कि यह समझना कि बालक के 'व्यक्तित्व' का उसकी 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) के आधार पर ही विकास होता है, ग़लत है। 'मारक्वीसन' (Marquesan) नाम की एक जंगली जाति है। नैसर्गिक-शक्तियों के आधार पर 'व्यक्तित्व' के विकास का परिणाम तो

स्वाभाविक तौर पर यह होना चाहिए कि युवावस्था में 'यौन-भावना' (Sex instinct) प्रवल हो उठे परन्तु इस जाति में यौन-भावना अत्यन्त साधारण है, इसका मानो उन्हें ख़्याल भी नहीं, 'कौमार्य' के लिए इनकी भाषा में कोई शब्द ही नहीं पाया जाता, और यौन-सम्बन्ध के विषय में इनके मन में कोई ऐसा मानसिक-क्षोभ नहीं उत्पन्न होता जैसा हम सभ्य लोगों के मन में उत्पन्न हो जाता है। अस्ल वात यह है कि हर समाज के अपने-अपने 'व्यक्तित्व के आधार-तत्व' (Basic Personality Types) वने होते हैं—इन 'आधार-तत्वों' की कल्पना हमारी 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) के कारण इतनी नहीं होती जितनी समाज के 'चलन' के कारण होती है, और हर वालक जिस समाज में जन्म लेता है उस समाज के 'व्यक्तित्व के इन आधार-तत्वों' को अपने क्रियात्मक-जीवन में उतारता चला जाता है। वच्चा वह वनता जाता है जो माता-पिता उसे वनाते जाते हैं। मुंडूगामर (Mundugamor) जाति की स्त्रियों को वच्चे जनने से घृणा है। वे बच्चे को खड़े-खड़े दूध पिलाती हैं, और ज़रा-सा पेट भरने पर अलग धकेल देती हैं। एलोरीज़ (Alorese) जाति की माताएँ वच्चे को जन्म के १४ दिन वाद घर छोड़कर काम पर चली जाती हैं। माता-पिता के इस क्रूर व्यवहार से वचपन में ही क्रोध, लापरवाही आदि की वालक के जीवन में आधार-शिला रख दी जाती है, और वह वालक वड़ा होकर दूसरों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करता है जैसा उसने वाल्य-काल में अपने माता-पिता से पाया होता है। एक जाति के लोग १८ वर्ष की अवस्था आने पर वालक को

शेर का शिकार करने के लिए तय्यार करते हैं। अगर वह शेर को मारता हुआ कई जगह से लहू-लुहान हो जाय, तो ख़ुश होते हैं, उसे थपकी देते हैं, बालक भी चोट खाकर हँसता ही रहता है, मुकाबिला करता है, हमारे बच्चों की तरह दम तोड़कर भाग नहीं खड़ा होता। इस सब का कारण यही है कि बालक जिन माता-पिता के सम्पर्क में है उनके यहाँ का 'चलन', उनके माने हुए 'व्यक्तित्व के आधार-भूत तत्व' (Basic Personality Types) इस प्रकार के हैं जिनके होते हुए बालक का व्यवहार वैसा ही हो सकता है, दूसरे प्रकार का नहीं।

ऊपर हमने जो-कुछ कहा, उसे यों भी कह सकते हैं कि बालक जब किसी परिवार में जन्म लेता है तब वह अपने चारों तरफ़ परिवार की एक 'संस्कृति' देखता है। उस परिवार का रहने-सहने का, खाने-पीने का, सोचने-विचारने का अपना ही ढंग होता है। उस परिवार की इन सब बातों को उस परिवार का 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' (Cultural pattern) कह सकते हैं। 'प्रतिमान' (Pattern) का अर्थ है—ढंग, नमूना। बच्चे के सामने अपने परिवार के 'चलन' का, 'व्यवहार' का एक नमूना है, उस नमूने के अनुसार वह ढलता चला जाता है। जैसे एक पौधा बंजर ज़मीन में उगा हो, तो रस न मिलने से और ही तरह का विकसित होता है, भिन्न-भिन्न प्रकार की खाद मिल रही हो, तो उसका विकास दूसरे ढंग का हो जाता है, वैसे ही भिन्न-भिन्न 'सांस्कृतिक-प्रतिमानों' (Cultural patterns) में पलते हुए भिन्न-भिन्न बच्चों का भिन्न-भिन्न 'व्यक्तित्व' बन जाता है।

एक बात यहाँ ध्यान देने की है। जिस प्रकार की 'संस्कृति'

के संस्कार बच्चे पर पड़ेंगे, वह वैसा बन जायगा। 'संसार में हम शासन करने के लिए आये हैं'—ये विचार जर्मन-जाति के 'व्यक्तित्व के आधार-भूत तत्व' (Basic Personality Types) रहे, उनके एक तरह से 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' (Cultural patterns) रहे। इन विचारों से जो बच्चे बने उनमें एक हिटलर भी था। यहाँ हमने देखा कि 'संस्कृति' ने बालक के 'व्यक्तित्व' का निर्माण किया। सब जगह यही होता भी है। परन्तु यह भी तो होता है कि जैसे 'संस्कृति' बालक के 'व्यक्तित्व' का निर्माण करती है, वैसे बालक से युवा बनने के बाद उस युवा पुरुष-स्त्री का 'व्यक्तित्व' भी तो 'संस्कृति' को प्रभावित करता है, आज के बालक कल बड़े होने पर परसों की 'संस्कृति' का निर्माण करते हैं। हिटलर ने भी तो बड़े होकर अपनी जाति को एक खास दिशा की तरफ़ धकेला था। महात्मा गांधी भारत की आध्यात्मिक संस्कृति की उपज थे, यहाँ के 'व्यक्तित्व के आधार-भूत तत्वों', यहाँ के 'सांस्कृतिक-प्रतिमानों' के परिणाम थे, परन्तु बड़ा होने पर उन्होंने यहाँ की 'संस्कृति', 'संस्कृति के प्रतिमानों', 'व्यक्तित्व के आधारभूत तत्वों' को एक नई दिशा दी। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे संस्कृति बालक को प्रभावित करती है, वैसे बालक बड़ा होकर अपने व्यक्तित्व से संस्कृति को भी प्रभावित करता है।

४. भाई-बहिनों का 'व्यक्तित्व'-निर्माण पर प्रभाव

हमने देखा कि माता-पिता किस प्रकार बालक के 'व्यक्तित्व' को प्रभावित करते हैं। माता-पिता के अतिरिक्त उसका निकट सम्पर्क अपने भाई-बहनों से होता है। परिवार में कोई बच्चा

प्रथम-शिशु होता है, कोई प्रथम होने के साथ इकला ही होता है, उसका दूसरा भाई-वहन नहीं होता, कोई कई वच्चों में बीच का, कोई अन्त का होता है, कोई लड़की, कोई लड़का होता है। इन सब सामाजिक बातों का वालक-वालिका के 'व्यक्तित्व' के निर्माण में बड़ा भारी असर है। इस असर का अध्ययन विशेष तौर पर 'एडलर' (Adler) ने किया था। एडलर का कथन है कि जो लड़का अपने माँ-वाप का इकलौता वेटा है, उसकी देख-रेख बहुत होती है, माँ-बाप उसके लिए सब-कुछ करने को उत्सुक रहते हैं। उसकी इच्छाएँ बिना हाथ-पैर चलाये पूरी होती रहती हैं, अत: उसमें साहस कम हो जाता है। एक लड़का इकलौता नहीं, परन्तु सब भाई-वहनों में बड़ा है। अव छोटों पर रौब जमाना उसके जीवन का हिस्सा वन जाता है। वड़े से छोटा लड़का जीवन-संग्राम में पीछे आता है इसलिए वह दूसरों से आगे निकलने की कोशिश करता है। तीसरे लड़के के 'व्यक्तित्व' का विकास पहले-दूसरे से भिन्न होता है। सबसे छोटा सदा छोटा वना रहता है, सब उस पर रौव जमाते हैं, यह चालीस वरस का हो जाने पर भी 'मुन्नू' और 'छोटे-जी' ही बना रहता है। एडलर का कथन है कि वालक परिवार में किस क्रम से आया है इस वात का उसके 'व्यक्तित्व' के निर्माण पर असर होता है। जिस क्रम से आया है, वैसा ही उसके जीवन का ढंग, वैसा ही तरीका वन जाता है। जीवन के इस ढंग, इस तरीके को एडलर ने 'जीवन का ढंग' (Style of life) का नाम दिया है। उसका कहना है कि वालक का जीवन में आने का जो क्रम है—इकला, पहला, दूसरा, तीसरा, अन्तिम—उसी क्रम पर आश्रित तरीके से उसका 'जीवन का ढंग'

बन जाता है, और जैसा 'जीवन का ढंग' बन गया वैसा ही उसका 'व्यक्तित्व' बन जाता है। लड़के के साथ हमारे समाज में एक तरह का व्यवहार होता है, लड़की के साथ दूसरी तरह का, इसलिए इन दोनों का 'व्यक्तित्व' भी भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है। लड़का यही समझता है कि उसे हुकूमत करनी है, लड़की यही समझती है कि उसे हुकूमत माननी है—इसीके अनुसार दोनों का 'व्यक्तित्व' बनता चला जाता है।

५. यौन-तत्त्वों का 'व्यक्तित्व'-निर्माण पर प्रभाव

एडलर प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी फ्रॉयड का शिष्य था। फ्रॉयड ने बालक के 'व्यक्तित्व' पर प्रभाव डालनेवाले 'यौन-तत्वों' (Sex factors) को मुख्यता दी है। फ्रॉयड का कहना है कि 'यौन-भावना' (Sex-instinct) बालक में शुरू से पायी जाती है। बालक अपनी माता की तरफ़ खिंचता है, बालिका अपने पिता की तरफ़। बालक के माता के प्रति और बालिका के पिता के प्रति खिंचाव को फ्रॉयड यौन-आकर्षण कहता है। बालक अपने पिता का अपनी माता के प्रति प्रेम-व्यवहार देखकर पिता से जलने लगता है, उससे ईर्ष्या करने लगता है, बालिका अपनी माता का पिता के प्रति प्रेम-व्यवहार देखकर माता से जलने लगती है। बालक अपने पिता का और बालिका अपनी माता का कुछ बिगाड़ तो सकती नहीं, अतः उन्हें अपनी यह ईर्ष्या दबानी पड़ती है। इस प्रकार अपनी इन यौन-इच्छाओं को दबाने से उनमें 'भावना की गांठ' बैठ जाती है जिसे 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) कहते हैं। बालक पिता से ईर्ष्या कर रहा होता है, इस ईर्ष्या को दबाने से जो ग्रन्थि पड़ जाती है उसे

'ईडीपस-कम्प्लेक्स' अर्थात् 'पितृ-विरोधी-ग्रन्थि 'कहते हैं, बालिका माता से ईर्ष्या करती है, इस भावना को दबाने से जो ग्रन्थि पड़ जाती है उसे 'एलेक्ट्रा-कम्प्लैक्स' अर्थात् 'मातृ-विरोधी-ग्रन्थि' कहते हैं। फ्रॉयड का कथन है कि सब बालक-बालिकाओं में ये ग्रन्थियाँ थोड़ी-बहुत पायी जाती हैं, अतः सब के 'व्यक्तित्व' पर इनका थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य रहता है। मनुष्य के 'व्यक्तित्व' में बड़े होने पर यौन-जीवन की जो समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं उनका उद्भव-स्थान बचपन की ही ये 'यौन-भावना-ग्रन्थियाँ' हैं—ऐसा फ्रॉयड के अनुयायियों का कथन है।

इसके अतिरिक्त बालक के सामने एक समस्या हर समय बनी रहती है। वह देखता है कि पिता ही घर का शासन-सूत्र चलाता है, उसीके हाथ में सारी बागडोर है। वह समय-समय पर बालक को दण्ड भी देता है। एक तरफ़ सारी शक्ति पिता के हाथ में होने से बालक पिता को सराहता है, दूसरी तरफ़ जब पिता उसे दण्ड देता है तब पिता से वह नफ़रत भी करता है। यह विरोध हर बालक में उत्पन्न होता है। पिता से प्रेम भी करे, घृणा भी करे—इस समस्या का हर बालक को हल निकालना होता है। फ्रॉयड कहता है कि इस समस्या का हल बालक स्वयं ढूंढ निकालता है। वह पिता के साथ 'तादात्म्य' (Identification) स्थापित कर लेता है। पिता जो कहता-करता है, उसे बालक यह सोचकर कहने-करने लगता है जैसे बालक स्वयं वही-कुछ कह-कर रहा हो। यही मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया लड़की में होती है। वह भी माता-पिता के साथ 'तादात्म्य' स्थापित कर लेती है। जब माता-पिता के साथ दुई का भाव न रहा, तो समस्या अपने-आप

वातावरण के बाहर आ जाता है। घर में तो माता-पिता की आधीनता में 'यह न करो—वह न करो' का बन्धनमय संसार होता है, घर से बाहर अपने साथियों में वह स्वतन्त्रता से विचरने लगता है। इन साथियों के साथ सामाजिक-सम्पर्क में आने से उसकी अनेक प्रसुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं। जो बालक नेता बनने योग्य है वह समूह में जाकर नेतृत्व करने लगता है, यही नेतृत्व का अभ्यास बड़े होने पर उसे समाज, देश या जाति का नेता बना देता है। कइयों में आज्ञा-पालन की शक्ति बलवती हो सकती है। वे समूह में जाकर अच्छे अनुयायी का काम कर दिखाते हैं। समूह में व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार करता है उससे भी उसके 'व्यक्तित्व' का निर्माण होता है। इस विषय को लेकर 'समूह-मनोविज्ञान' (Crowd Psychology)-नाम से एक अलग 'मनोविज्ञान' का उदय हुआ है। 'समूह-मनोविज्ञान' पर श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल के 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का इस विषय का अध्याय इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है।

७. 'संगठित' तथा 'असंगठित' व्यक्तित्व

'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) के विद्यार्थी को पदे-पदे विचार करना होता है कि समाज का यह रूप 'संगठित' (Integrated) है, या 'असंगठित' (Dis-integrated)। उदाहरणार्थ, हमने परिवार पर विचार करते हुए इस बात पर बहस की थी कि वर्तमान अवस्थाओं में यह संस्था बनी रहेगी, या नष्ट हो जायगी। परिवार का बने रहना उसकी 'संगठित-अवस्था' (Integration) को सूचित करता है, परिवार का संस्था के रूप में नष्ट हो जाना उसकी 'असंगठित-

वातावरण के बाहर आ जाता है। घर में तो माता-पिता की आधीनता में 'यह न करो—वह न करो' का बन्धनमय संसार होता है, घर से बाहर अपने साथियों में वह स्वतन्त्रता से विचरने लगता है। इन साथियों के साथ सामाजिक-सम्पर्क में आने से उसकी अनेक प्रसुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं। जो बालक नेता बनने योग्य है वह समूह में जाकर नेतृत्व करने लगता है, यही नेतृत्व का अभ्यास बड़े होने पर उसे समाज, देश या जाति का नेता बना देता है। कइयों में आज्ञा-पालन की शक्ति बलवती हो सकती है। वे समूह में जाकर अच्छे अनुयायी का काम कर दिखाते हैं। समूह में व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार करता है उससे भी उसके 'व्यक्तित्व' का निर्माण होता है। इस विषय को लेकर 'समूह-मनोविज्ञान' (Crowd Psychology)-नाम से एक अलग 'मनोविज्ञान' का उदय हुआ है। 'समूह-मनोविज्ञान' पर श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल के 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का इस विषय का अध्याय इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है।

७. 'संगठित' तथा 'असंगठित' व्यक्तित्व

'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) के विद्यार्थी को पदे-पदे विचार करना होता है कि समाज का यह रूप 'संगठित' (Integrated) है, या 'असंगठित' (Dis-integrated)। उदाहरणार्थ, हमने परिवार पर विचार करते हुए इस बात पर बहस की थी कि वर्तमान अवस्थाओं में यह संस्था बनी रहेगी, या नष्ट हो जायगी। परिवार का बने रहना उसकी 'संगठित-अवस्था' (Integration) को सूचित करता है, परिवार का संस्था के रूप में नष्ट हो जाना उसकी 'असंगठित-

अवस्था' (Disintegration) को सूचित करता है। परिवार की तरह समाज की भी संगठित-असंगठित अवस्था पर विचार किया जाता है। हमारे समाज में जो रीति-रिवाज़, चलन, परंपराएँ चल रही हैं वे इसी रूप में बनी रहेंगी, या नष्ट हो जायँगी? समाज-शास्त्री को इन सब बातों पर विचार करना होता है। इसी प्रकार का विचार 'व्यक्तित्व' के विषय में उठा करता है। हममें से सबका अपना-अपना 'व्यक्तित्व' है। प्रश्न यह है कि हमारा जो-कुछ भी 'व्यक्तित्व' है वह 'संगठित' (Integrated) है, या 'असंगठित' (Dis-integrated) ?

'संगठित' अथवा 'असंगठित'-व्यक्तित्व का क्या अर्थ है? एक घर में माता, पिता, पुत्र, नौकर—सब रहते हैं। अगर सब एक होकर, संगठित होकर अपना-अपना काम करें, तब तो उस घर का काम-काज ठीक-से चलता है, परन्तु अगर पुत्र को आवाज़ दें तो नौकर भागा आये, नौकर को आवाज़ दें तो पुत्र भागा आये, अगर माता को कुछ कहें तो पिता समझे उसे कहा गया है, पिता को कुछ कहें तो माता समझे उसे कहा गया है, तब तो यही कहना होगा कि उस घर में कोई भारी कमी है। वह कमी यही तो है कि घर सारा-का-सारा मिल कर एक 'इकाई' होकर काम नहीं कर रहा, उसमें 'संगठन' नहीं है, 'सामञ्जस्य' (Integration) नहीं है। इसके विपरीत अगर घर के सब लोग हमें एक रूप में दीखें, पिता का अपना और माता का अपना स्थान हो, पुत्र और नौकर अपनी-अपनी जगह पर हों, उनमें समता हो, विषमता न हो, यह मालूम न पड़े कि यह क्या झमेला है, तब कहा

जायगा कि वह घर सारा-का-सारा मिलकर 'इकाई' बना हुआ है; उसमें 'सामञ्जस्य' (Integration) है। घर की 'इकाई' से हमारा क्या अभिप्राय है? जब हम कहते हैं कि इस घर के सब अंग मिलकर एक 'इकाई' बनाते हैं, तब हमारा यह अभिप्राय होता है कि इस घर में प्रत्येक व्यक्ति का अपना 'स्थान' (Status) है, और अपने 'स्थान' के अनुरूप उसका 'कार्य' (Role) है। घर में पिता का अपना 'स्थान' (Status) है, उसका 'कार्य' (Role) अपने परिवार के लिए भोजन लाना है; माता का अपना 'स्थान' (Status) है, उसका 'कार्य' (Role) घर में रहकर बाल-बच्चों की देख-रेख करना है। अगर पिता अपने 'स्थान' (Status) को बनाये रखना चाहता है, तो उसे अपने 'कार्य' (Role) को करना होगा, माता अपना 'स्थान' (Status) बनाये रखना चाहती है, तो माता को भी अपना 'कार्य' (Role) करते रहना होगा। अगर पिता दिन-रात चादर तान कर सोता रहे, बाल-बच्चों के लिए कमाई करके न लाये, तो सारा-का-सारा घर 'असंगठित' (Disintegrated) हो जायगा। 'संगठन' (Integration) के लिए 'स्थान' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का सामञ्जस्य ज़रूरी है, जब यह सामञ्जस्य टूट जाता है तब 'असंगठन' (Disintegration) हो जाता है। 'संगठन' तथा 'असंगठन' के विषय में 'स्थान' (Status) तथा 'कार्य' (Role) के सामञ्जस्य की यही बात 'व्यक्तित्व' (Personality) पर भी वैसे ही लागू होती है। जब हम कहते हैं कि इस मनुष्य का 'व्यक्तित्व' (Personality) 'संगठित' (Integrated)

है, तब हमारा यह अभिप्राय होता है कि इस व्यक्ति का जीवन में जो 'स्थान' (Status) है, वह उसके अनुरूप ही 'कार्य' (Role) भी कर रहा है। अर्थात्, समाज में इसका व्यवहार ऐसा है जिसमें इसकी 'स्थिति' तथा 'कार्य' में मेल है, जैसी इसकी 'स्थिति' है, उसके अनुकूल इसका 'कार्य' है, और जैसा इसका 'कार्य' है उसके अनुकूल इसकी 'स्थिति' है। यह तो 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) की दृष्टि से बात हुई। जब हम कहते हैं कि इस मनुष्य का 'व्यक्तित्व' 'संगठित' है, तब "वैय्यक्तिक-मनोविज्ञान' (Individual Psychology) की दृष्टि से हमारा क्या अभिप्राय होता है? 'वैय्य-क्तिक-मनोविज्ञान' मनुष्य में भिन्न-भिन्न मानसिक-शक्तियों को मानता और इनकी भिन्नता को मापता है। मनुष्य में 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) हैं, 'कल्पना' (Imagination) है, 'बुद्धि' (Intelligence) है। इन सब शक्तियों का मनुष्य में अपना-अपना 'स्थान' (Status) है, साथ ही अपना-अपना 'कार्य' (Role) है। मनुष्य की इन मानसिक-शक्तियों का एक-दूसरे के साथ 'सामञ्जस्य' ही 'संगठित-व्यक्तित्व' है, इनका 'असामञ्जस्य' ही 'असंगठित-व्यक्तित्व' है। अगर कोई व्यक्ति जंगल में शेर से डरता है, तब तो ठीक है—डरना एक 'कार्य' (Role) है, उसकी 'स्थिति' (Status) इसी अवस्था में ठीक बैठती है जब जान के लिए खतरा हो, परन्तु अगर कोई पिंजड़े में बन्द शेर से डरता है, तब 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का मेल नहीं बैठता, और पहली अवस्था को 'संगठित-व्यक्तित्व' और दूसरी अवस्था को 'असंगठित-व्यक्तित्व'

कहना पड़ता है। जो चीज़ जो-कुछ है वह वही काम करे, दूसरा काम न करे—इसी में तो 'स्थिति' तथा 'कार्य' का समन्वय है, अगर चीज़ कुछ है, वह काम कुछ कर रही है, तो उस वस्तु की 'स्थिति' अपने 'कार्य' के अनुरूप नहीं है, और क्योंकि 'स्थिति' तथा 'कार्य' में अनुरूपता नहीं है इसलिए उस चीज़ को, उस व्यक्ति को, उस संस्था को—जो-कुछ भी वह है उसे—'संगठित' (Integrated) नहीं माना जा सकता।

'संगठित' तथा 'असंगठित'-व्यक्तित्व में क्या भेद है? इन दोनों में भेद यह है कि 'संगठित-व्यक्तित्व' में मानसिक-शक्तियाँ अपना-अपना काम ठीक-से करती हैं, जो उनका काम है उसे ठीक-से निभाये जाती हैं, उनकी 'स्थिति' तथा 'कार्य' में भेद नहीं आता, 'असंगठित-व्यक्तित्व' में मानसिक-शक्तियाँ, उनका जो काम होता है, उसे ठीक-से नहीं कर पातीं, मनुष्य भावना की जगह बुद्धि से, बुद्धि की जगह भावना से और जहाँ आवश्यकता नहीं वहाँ कल्पना से काम लेने लगता है। हर मानसिक-शक्ति को अपने अनुरूप कार्य में लगा सकना 'संगठित-व्यक्तित्व' का लक्षण है। अस्ल में 'व्यक्तित्व' के 'संगठन' क्या, हर प्रकार के 'संगठन' (Integration) की एक ही समस्या है। आज परिवार टूट रहा है, समाज का अंग-भंग हो रहा है, हमारी पुरानी प्रथाओं का विच्छेद हो रहा है, व्यक्तित्व के असंगठित होने का प्रश्न उत्पन्न हो गया है—ये सब प्रश्न इसीलिए उठ रहे हैं क्योंकि जिस काम के लिए इन सब की उत्पत्ति हुई थी, जिस काम के लिए ये अब तक बनी हुई थीं, इनकी स्थिति थी, वह काम इनसे नहीं हो रहा। 'स्थिति' तथा 'कार्य' का बेमेल न होना

'समन्वय' कहा जाता है, 'स्थिति' तथा 'कार्य' की 'एकता' कहा जाता है। इन दोनों का 'संगठन'-'समन्वय' (Integration), इन दोनों का 'इकाई' (Unit) में बँधे रहना—जिस 'काम' के लिए जिस चीज़ की 'सत्ता' है उसे किये जाना—'असंगठन' (Disintegration) को रोकने का एकमात्र साधन है।

८. 'असंगठित-व्यक्तित्व' के उदाहरण

'असंगठित-व्यक्तित्व' को समझ लेने से 'संगठित-व्यक्तित्व' का अभिप्राय और अधिक स्पष्ट हो जाता है। जैसे बीमारी को समझ लेने से स्वास्थ्य की अवस्था ठीक समझ पड़ जाती है, वैसे 'असंगठित-व्यक्तित्व' की अवस्था समझ लेने से 'संगठित-व्यक्तित्व' की अवस्था समझ में आ जाती है।

'असंगठित-व्यक्तित्व' का सबसे अच्छा उदाहरण 'अनेक-व्यक्तित्व' (Multiple Personality) का है। स्वस्थ मनुष्य में तो 'एक-व्यक्तित्व' रहता है, वह अपने को 'एक' अनुभव करता है, 'अनेक' नहीं, परन्तु कई व्यक्तियों का 'व्यक्तित्व' एक नहीं, एक ही शरीर में अनेकता का हो जाता है। 'अनेक-व्यक्तित्व' (Multiple Personality) के उदाहरणों में 'एकान्तर व्यक्तित्व' (Alternating Personality) तथा 'सम-कालीन व्यक्तित्व' (Simultaneous Personality) के दृष्टान्त हमारे कथन को बहुत अधिक स्पष्ट कर देंगे। दोनों के उदाहरण निम्न हैं :—

डोरिस नाम की तीन साल की एक लड़की थी। वह खेलते-खेलते पिता के बिस्तर पर सो गई। इतने में उसका पिता शराब के नशे में चूर हुआ आया। क्रोध में आकर उसने अपनी पुत्री को

उठाकर फ़र्श पर पटक दिया। तब से उस लड़की की विचित्र दशा हो गई। वह बिल्कुल चुप रहने लगी, मेहनती और सत्य-निष्ठ बन गई। परन्तु बीच-बीच में ऐसे अवसर आते जब वह शरारती और बेकाबू-सी हो जाती। विचित्रता यह थी कि भली अवस्था की डोरिस को अपनी शरारती अवस्था की स्मृति बिल्कुल नहीं रहती थी; हाँ, शरारती अवस्था की डोरिस को भली अवस्था की स्मृति बनी रहती थी। डोरिस का 'व्यक्तित्व' एक नहीं रहा था, उसमें दो 'व्यक्तित्व' उत्पन्न हो गये थे जो आगे-पीछे आते रहते थे। मनोविज्ञान की परिभाषा में 'अनेक-व्यक्तित्व' (Multiple Personality) के इस उदाहरण को 'एकान्तर-व्यक्तित्व' (Alternating Personality) कहते हैं। 'एकान्तर' का अर्थ है, कुछ अन्तर देकर, कुछ समय छोड़ कर। डोरिस का 'व्यक्तित्व' कुछ समय छोड़कर, एक व्यवधान देकर, एक अन्तर देकर आता था, अतः उसमें 'एकान्तर-व्यक्तित्व' दिखाई देता था।

'एकान्तर-व्यक्तित्व' की तरह 'समकालीन-व्यक्तित्व' (Simultaneous Personality) की घटना भी 'अनेक-व्यक्तित्व' (Multiple Personality) को दर्शानेवाली एक मनोवैज्ञानिक घटना है। डा० मौरटन प्रिंस ने एक स्त्री पर कई परीक्षण किये। एक तो उस स्त्री का 'प्रथम-व्यक्तित्व' (Primary Personality) था; एक 'द्वितीय-व्यक्तित्व' (Secondary Personality) था। डा० प्रिंस उसे हिप्नोटिज़्म द्वारा 'प्रथम' से 'द्वितीय' और 'द्वितीय' से 'प्रथम' अवस्था में ले आते थे। जब वह 'द्वितीय' (Secon-

dary)-अवस्था में थी, तब उसे कहा गया कि तुमने गणित का एक प्रश्न हल करना है, यह भी बता दिया गया कि प्रश्न के हल करने की विधि यह है, यह नहीं बताया गया कि प्रश्न क्या है, और उस प्रश्न में अंक कौन-कौन-से हैं। उसके बाद उसे कुछ ही क्षण के लिए 'प्रथम' (Primary)-अवस्था में ला दिया गया, और उस प्रश्न के अंक साधारण तौर पर उसे दिखा दिये गये, इतने साधारण तौर पर कि 'प्रथम'-अवस्था में वह उन्हें ठीक तौर पर देख भी न पायी, और क्योंकि 'प्रथम'-अवस्था में उसे मालूम भी नहीं था कि ये अंक उसे क्यों दिखाये गये, इसलिए उसके लिए देखना-न-देखना एक-समान रहा। अब उसे फिर 'द्वितीय'-अवस्था में लाया गया, तो वह स्त्री चिल्ला उठी कि मैं तो कभी-से इस प्रश्न को हल किये तय्यार हूँ। इस परीक्षण से सिद्ध हुआ कि 'व्यक्तित्व' की 'प्रथम'-अवस्था और 'द्वितीय'-अवस्था—दोनों का काम एक ही समय अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से चल रहा था। जब 'द्वितीय'-अवस्था को समाप्त कर दिया गया था, तब भी वह अपना काम 'प्रथम'-अवस्था के साथ-साथ कर रही थी, तभी तो 'प्रथम'-अवस्था के आ जाने पर भी अपने प्रश्न के हल करने में, जो 'द्वितीय'-अवस्था में हो रहा था, वह लगी हुई थी। परन्तु 'द्वितीय'-अवस्था में तो उसे प्रश्न बताया नहीं गया था, फिर वह हल क्या कर रही थी ? इसका समाधान यही हो सकता है कि जब उसे 'प्रथम'-अवस्था में लाया गया उस समय का ज्ञान तत्काल 'द्वितीय'-अवस्था को हो गया और उसने प्रश्न हल करना शुरू कर दिया। इस तथा डोरिस के परीक्षण से यह भी सिद्ध हुआ कि 'द्वितीय'-अवस्था को तो 'प्रथम'-अवस्था का ज्ञान

रहता है, 'प्रथम'-अवस्था को 'द्वितीय'-अवस्था का ज्ञान नहीं रहता। "प्रथम'-अवस्था हमारा 'प्रथम'-व्यक्तित्व है, वह 'व्यक्तित्व' जिसमें हम सदा रहते हैं, हमारी 'ज्ञात-चेतना' (Conscious self); 'द्वितीय'-अवस्था हमारा 'द्वितीय'-व्यक्तित्व है, वह 'व्यक्तित्व' जिससे हम अनभिज्ञ होते हैं, हमारी 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious self)। 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious) को 'ज्ञात-चेतना' (Conscious) का ज्ञान रहता है, 'ज्ञात' को 'अज्ञात' का नहीं।

ऊपर जो दृष्टान्त दिये गये उनसे क्या स्पष्ट हुआ? ये दृष्टान्त रुग्णावस्था के हैं। इन दृष्टान्तों में 'व्यक्तित्व' का अंग-भंग हो जाता है, 'व्यक्तित्व' के 'असंगठित' होने की ये चरम सीमा हैं। परन्तु 'व्यक्तित्व' का थोड़ा-बहुत 'असंगठन', थोड़ा बहुत अंग-भंग, उसकी 'एकता' का टूट जाना हम सब में पाया जाता है। हम देखते हैं कि हमारी इच्छाएँ हमें सदा एक ही दिशा की तरफ़ नहीं ले जातीं। कभी-कभी तो यह भी देखा जाता है कि भिन्न-भिन्न इच्छाओं में संग्राम छिड़ जाता है। कोई इच्छा एक तरफ़ ले जाती है, तो कोई दूसरी तरफ़। कभी-कभी तो हम अपने परिचित मित्रों के असंगत व्यवहार को देखकर कह उठते हैं, अरे भाई! तुम इतने बदल गये, क्या तुम वही हो जो पहले थे? चरित्र में ऐसी असंगत अवस्थाएँ 'भावना-ग्रन्थियों' (Complexes) के कारण उत्पन्न हो जाती हैं। मनोविश्लेषणवादियों का कहना है कि जब हमारे भीतर दो विरोधी इच्छाएँ होती हैं, एक को हम सामाजिक-भय या किसी अन्य कारण से दबा देते हैं, तब वह दबी हुई इच्छा मरती नहीं,

और अधिक तीव्र हो जाती है, और हमारे भीतर एक 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) उत्पन्न कर देती है, जो भीतर-ही-भीतर रड़का करती है, हम उसे भूल जाते हैं, परन्तु वह हमें नहीं भूलती, और अन्दर से कोंचा करती है। 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) के बनने के कई कारण हैं। इनमें मुख्य कारण यह है कि हमारी 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious) जो-कुछ चाहती है, 'ज्ञात' (Conscious) वह नहीं होने देना चाहती, इसलिए नहीं होने देना चाहती क्योंकि समाज में उसे बुरा समझा जाता है। परिणाम यह होता है कि 'चेतना' के भीतर एक तनातनी छिड़ जाती है, संग्राम छिड़ जाता है। हम भूल जाते हैं कि हमारे भीतर तनातनी छिड़ी हुई है, परन्तु 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) के रूप में वह जारी रहती है। यह 'भावना-ग्रन्थि'—मन के भीतर की दुविधा—'अन्तर्द्वन्द्व' (Conflict of Personality) से उत्पन्न हुई होती है। जब तक यह दुविधा बनी रहती है, तबतक 'भावना-ग्रन्थि' भी बनी रहती है। दुविधा से उत्पन्न हुई 'भावना-ग्रन्थि' जब हमारे भीतर चुपके-चुपके रड़क पहुँचा रही होती है, तब मन की इस अवस्था को 'स्नायु-रोग' (Neurosis) कहते हैं, यह बढ़ जाय तो 'स्नायु-भंग' (Neurasthenia or Nervous breakdown) हो जाता है। यह 'असंगठित-व्यक्तित्व' का, 'दुविधा' का, 'अन्तर्द्वन्द्व' का, 'भावना-ग्रन्थि' का ही परिणाम है। हमारी चेतना टूटी न रहे, छिन्न-भिन्न न रहे, एक रहे, तभी 'व्यक्तित्व' सुन्दर बनता है, मनुष्य को सुख देनेवाला बनता है, नहीं तो 'असंगठित' या 'विच्छिन्न-व्यक्तित्व' से दुःख-ही-दुःख पहुँचता है।

७

बाल्यावस्था तथा यौन-शिक्षा

(CHILDHOOD AND SEX-EDUCATION)

१. बालक की तीन अवस्थाएँ

बालक अपने विकास में तीन अवस्थाओं में से गुज़रता है। इन तीन के बाद 'युवावस्था' आ जाती है। इन तीन में ही बालक की 'नैसर्गिक-इच्छाओं' (Instincts or drives) का हमें अधिक वास्ता पड़ता है, अतः हम यहाँ इन तीनों का वर्णन करेंगे :—

(१) शैशवावस्था (Infancy)—जन्म से ६ वर्ष तक,
(२) बाल्यावस्था (Childhood)—७ से १२ वर्ष तक,
(३) किशोरावस्था (Adolescence) १३ से १८ तक।

उक्त तीनों अवस्थाओं में बालक का विकास किस प्रकार होता है? विकास से हमारा क्या अभिप्राय है? बालक जिस चीज़ को देखता है उसके विषय में जानना चाहता है। कौए को देखता है, तो जानना चाहता है—यह क्या है? यह 'जिज्ञासा' (Curiosity) की 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct or drive) है। छोटी-मोटी चीज़ों को उठाकर अपने बस्ते में रखना भी चाहता है—यह 'संचय' (Acquisition) की 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct or drive) है। इसी प्रकार उसकी कोई चीज़ खोई जाय, तो उसे ढूंढता है—यह 'तर्क' (Reasoning) है, यही सोचकर तो ढूंढता है कि खोजूंगा, तो पा जाऊँगा। बहुत-सी

बातें याद कर लेता है—भाषा का ज्ञान तभी तो होता है जब उसे शब्द याद हो जाते हैं—यह 'स्मृति' (Memory) है। प्रश्न यह है कि क्या 'जिज्ञासा'-'संचय' आदि 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' अथवा 'प्रेरक' (Instincts or Drives) तथा 'तर्क'-'स्मृति' आदि 'मानसिक-प्रक्रियाएँ' (Mental processes) बालक ज्यों-ज्यों विकसित होता जाता है त्यों-त्यों उसकी आयु के अनुसार विकसित होती जाती हैं, या ये शुरू से उसमें बीज रूप में रहती हैं, और बालक के विकास के साथ इन 'शक्तियों' तथा 'प्रक्रियाओं' का भी विकास होता जाता है ?

इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में तीन विचार हैं :—

(क) क्रमिक-विकास का नियम (Theory of Periodic development),

(ख) सम-विकास का नियम (Theory of Concomitant development),

(ग) 'नैसर्गिक-शक्तियों' अथवा 'प्रेरकों' (Instincts or drives) का 'सम' तथा 'मानसिक-प्रक्रियाओं' (Mental processes) का 'क्रमिक'-विकास।

कई मनोवैज्ञानिक तो यह मानते हैं कि बालक में क्रमिक-विकास होता है। पहले 'स्मृति' की मानसिक-प्रक्रिया होती है, 'तर्क' की तो बहुत पीछे आती है। इसीलिए पहले बालक को रटाना अधिक आसान पड़ता है, तर्क द्वारा समझाकर पढ़ाना शुरू-शुरु में कठिन होता है। 'नैसर्गिक-शक्तियों' का भी वे क्रमिक विकास मानते हैं। इसके विपरीत कई मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि बालक की मानसिक-प्रक्रियाओं का सम-विकास होता है,

वे सब एक-साथ चलती हैं, बालक हमारे ढंग से नहीं, परन्तु तर्क अवश्य करता है। इसी प्रकार 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' भी बालक में सब एक-साथ पायी जाती हैं। इन दोनों की तुलना में तीसरा सिद्धान्त अधिक युक्ति-युक्त है। इसमें उक्त दोनों का समन्वय हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts or drives) का तो सम-विकास होता है, बालक के जन्म से ही भोजन के लिए चाह, सुरक्षा, जानने की इच्छा, संग्रहशीलता आदि पायी जाती हैं और लगातार बनी रहती हैं, परन्तु 'मानसिक-प्रक्रियाओं' (Mental processes) में क्रमिक-विकास होता है, 'रुचि'-'तर्क' '-'स्मृति'-'ध्यान' 'कल्पना' आदि 'मानसिक-प्रक्रियाएँ' ज्यों-ज्यों बालक विकसित होता जाता है त्यों-त्यों विकास पाती हैं। बालक की ये 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts or drives) शिशु, बाल तथा किशोर तीनों में एक-समान पायी जाती हैं, सामाजिक-परिस्थितियों में इन्हीं को आधार बनाकर बालक का विकास होता है। हम आगे यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि शैशवावस्था, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts or drives) किस प्रकार अपने को प्रकट करती हैं।

१. शैशवावस्था (Infancy)

शिशु का शारीरिक तथा मानसिक-विकास

(क) शिशु के विकास का अनेक मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षणात्मक अध्ययन किया है। श्रीयुत् बुहलर (Buhler) ने शिशुओं के शारीरिक-विकास का अध्ययन करके यह परिणाम निकाला है कि प्रारंभ में शिशु की मांस-पेशियों द्वारा तीन प्रकार

की 'नैसर्गिक-गतियाँ' (Instinctive movements) होती हैं। पहली 'धनात्मक-गति' (Positive movement) कही जा सकती है। उदाहरणार्थ, माता का दूध पीने में शिशु 'धनात्मक-गति' करता है। ये 'धनात्मक-गतियाँ' माँ या धाया के साथ सम्बद्ध रहती हैं क्योंकि उन्हीं से उसे खाने को मिलता है। माँ तथा धाया से कुछ मिलता है इसलिए इन्हें 'धनात्मक' कहते हैं। धीरे-धीरे ये 'धनात्मक-गतियाँ' बढ़ती जाती हैं। वह हर चीज़ को देखने लगता है, हर शब्द को सुनने लगता है, हर वस्तु को पकड़ने लगता है। वैसे तो आँख है, तो देखता ही होगा, कान है, तो सुनता ही होगा, परन्तु हम देखने-सुनने का यहाँ प्रयोग मनोवैज्ञानिक अर्थ में कर रहे हैं। देखते हुए उसे ज्ञान होने लगता है—यह कोई चीज़ है, सुनते हुए उसे अनुभव होता है—यह कोई शब्द है। इन 'धनात्मक-गतियों' के अलावा शिशु 'ऋणात्मक-गति' (Negative movement) भी करता है। बहुत ज़ोर का शब्द हो, तो वह चौंक जाता है, चीख़ उठता है; तेज़ रोशनी को भी सहन नहीं कर सकता। ज्यों-ज्यों वह बाह्य-जगत् से परिचित होता जाता है, त्यों-त्यों ये 'ऋणात्मक-गतियाँ' कम होती जाती हैं। तीसरी हैं, 'सहज-गतियाँ' (Spontaneous movements)—ये बेकार का हाथ-पैर का चलाना आदि के रूप में प्रकट होती हैं, शुरु-शुरु में निरुद्देश्य प्रतीत होती हैं। 'धनात्मक-गति' का काम शिशु को दूध देना तथा अन्य विषयों से परिचित कराना है, 'ऋणात्मक-गति' का काम उसकी बाह्य, उग्र-आघातों से रक्षा करना है। इन तीसरी 'सहज-गतियों' का, हाथ-पैर मारने का क्या काम है? बुहलर महोदय का कथन है

कि यद्यपि शुरु-शुरु में यह गति निरर्थक-सी जान पड़ती है, तथापि आगे चलकर यही शिशु के लिए वरदान सिद्ध होती है। वह पैर चलाते-चलाते चलना-फिरना सीख जाता है, हाथ चलाते-चलाते वस्तुओं को पकड़कर 'वे क्या हैं'—यह जानने लगता है।

जन्मते ही शिशु संसार की विविधता को नहीं पहचानता। जन्म के बाद पहले या दूसरे महीने माता के स्पर्श को, फिर माता की आवाज़ को पहचानने लगता है। पाँच या छः मास का होने पर पिता को पहचानने लगता है। धीरे-धीरे 'निरीक्षण' तथा 'परीक्षण' द्वारा—वस्तुओं को छूकर, पकड़कर, तोड़कर—ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की सहायता से आकार, प्रकार, रंग-रूप, भेद आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। आग की चमक को देखकर उससे खेलता है, जब दो-एक बार जलता है तब परीक्षण कर चुकने के बाद आग से बचना सीखता है। इस आयु में शिशु को इस आयु के अनुकूल ही खिलौने देने चाहिएँ, जो रंग-विरंगे हों, आसानी से पकड़े जा सकें, कुछ मीठा-सा शब्द भी करें।

(ख) हम पहले ही देख चुके हैं कि मानवीय-शिशु तथा पशुओं की सन्तान में बड़ा भारी भेद है। पशु की सन्तान ऐसी आधार-भूत शक्तियाँ लेकर उत्पन्न होती है जिसे सीखने की ज़रूरत नहीं होती, मनुष्य की सन्तान को सब-कुछ सीखना पड़ता है—इसीलिए सामाजिक-मनोविज्ञान के पंडित पशुओं की इस मूल-शक्ति को 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) कहते हैं, शिशु की इस मूल-शक्ति को 'प्रेरक' (Drives) कहते हैं। उनका कहना है कि मानवीय-शिशु 'नैसर्गिक-शक्तियों' को नहीं, इन 'प्रेरकों' को लेकर पैदा होता है, और यद्यपि इनका प्रारंभिक रूप अत्यन्त

क्षुद्र होता है, तथापि सामाजिक-विकास की प्रक्रिया में पड़कर इन 'प्रेरकों' द्वारा बालक का असीम सामाजिक-विकास हो सकता है। पैर चलाना एक 'प्रेरक' है, परन्तु इसी ने वास्को-डी-गामा को बना दिया जिसने संसार को नाप डाला। बालक इन 'प्रेरकों' को आधार बनाकर समाज द्वारा ही सब-कुछ सीखता है। इसी कारण शिशु का बहुत-सा मानसिक-विकास तब तक नहीं हो पाता जबतक वह समाज से उन बातों को नहीं सीख लेता। उदाहरणार्थ, बिल्ली के बच्चे को अगर चूहे का शिकार करना नहीं भी सिखाया गया, तो भी वह चूहे को देखकर उस पर झपटता है, कुत्ते के पिल्ले को अगर बिल्ली का पकड़ना नहीं सिखाया गया, तो भी वह बिल्ली को देखते ही गुर्राने लगता है, परन्तु मानवीय शिशु साँप को देखकर उससे बचने के स्थान में उसे छू देता है। शिशु को चिड़ियाघर में ले जाकर परीक्षण किया गया कि वह शेर-चीते-हाथी से डरता है या नहीं। बड़े-बड़े लोग इन जानवरों से डरते हैं, परन्तु शिशु इन्हें छूने को दौड़ता है, इनसे खेलना चाहता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि 'भय'-'शंका'-'लज्जा' आदि शिशु के लिए 'नैसर्गिक-व्यवहार' नहीं हैं, ये उसके लिए 'सामाजिक-व्यवहार' हैं—वह इन्हें हम लोगों से सीखता है, नहीं तो जिन बातों से नहीं डरना चाहिए उनसे भी वह डरना सीख जाता है, बाबा से वह डरता है, भूत-प्रेत से भी हमारे सिखाने से डरने लगता है।

इस प्रकार हमने देखा कि कुछ बातों को शिशु अपने अनुभव से—निरीक्षण-परीक्षण द्वारा—अपनी '[illegible]'-'[illegible]' तथा 'सहज'-क्रियाओं से एवं कुछ को हमारे सिखाने से सीखता है।

(ग) शिशु दूसरे पर आश्रित रहता है, अन्य सब बातों की तरह स्वाश्रयी होना भी वह समाज में सीखता है। वह समझता है कि सभी-कुछ उसी के लिए है। माता-पिता, उनका लाड़-दुलार सब पर वह अपना एक-छत्र अधिकार समझता है, माता-पिता के लिए उसके अतिरिक्त अन्य भी कोई रुचि की बात हो सकती है—यह तो उसे देर में समझ आने लगता है।

(घ) उसका जगत् काल्पनिक होता है। इस आयु में वह यथार्थ तथा काल्पनिक में भेद नहीं कर सकता। वह इकला बैंठा-बैंठा बातें किया करता है—जिससे बातें करता है वह उस के लिए काल्पनिक नहीं यथार्थ होता है। लकड़ी का घोड़ा बनाता है, उस पर चढ़ कर टिक-टिक करता है, उसे कोई तोड़ दे, तो यह कह कर रोता है कि उसके घोड़े को तोड़ दिया गया। यथार्थ तथा काल्पनिक में भेद वह समाज में सीखता है।

(ङ) जिस स्थिति का शिशु पर गहरा असर पड़ता है उसे वह खेल में दोहराता है। अगर किसी चीज़ को देखकर वह डर गया है, तो खेल-खेल में वैसा ही 'हौआ' बनाकर वह दूसरों को डराता है। इसका उद्देश्य अपने को उस सामाजिक-स्थिति के मुकाबिले के लिए तय्यार करना होता है जिससे वह डर गया था।

(च) हमने देखा कि पैदा होने के वाद शिशु का समाज के सम्पर्क में आकर धीरे-धीरे 'समाजीकरण' (Socialization) होता जाता है। पैदा होने के वाद उसका काम सीखना-ही-सीखना तो है। यह 'सीखना' और 'समाजीकरण' एक ही बात है। जितना वह समाज की बातों को सीखता जाता है उतना

शिशु में प्रेम तथा यौन-भावना

शिशु की प्रेम-भावना स्वार्थमयी होती है। वह अपने में ही मस्त रहता है, उसके मन में दूसरे के लिए प्रेम नहीं होता। शुरु-शुरु में ऐसी ही अवस्था होती है—यह 'स्वात्म-प्रेम' (Auto-erotism) की अवस्था है। इसे मनोविश्लेषणवादी 'नारसिस्सिज़्म' (Narcissism) कहते हैं, क्योंकि ग्रीक कथानक के अनुसार 'नारसिस्सस'-नामक व्यक्ति तालाब में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने पर ही आसक्त हो गया था। दो या तीन वर्ष की अवस्था में शिशु यह देखने लगता है कि माता उसके अतिरिक्त उसके पिता से भी प्रेम करती है। फ्रॉयड महोदय का कहना है कि शिशु इस बात को सहन नहीं कर सकता कि माता उसके अलावा किसी से प्रेम करे। परिणाम-स्वरूप शिशु पिता को अपने मार्ग में काँटा समझने लगता है, और इसी कारण घर में कभी-कभी अकारण झगड़े करता है, चीख़ता है, क्रोध, हठ और ज़िद्द करता है। जब पिता उसे डाँटता है, तो वह समझता है कि पिता मेरी ईर्ष्या का मुझ से बदला ले रहा है। मनोविश्लेषणवादी कहते हैं कि बालक माता से प्रेम करता है, पिता से घृणा करता है। इस 'पितृ-विरोधी ग्रन्थि' को वे 'इडीपस-कम्प्लेक्स' (OEdepus complex) कहते हैं। 'इडीपस' एक ग्रीस बालक था जो बचपन में मरने के लिए जंगल में छोड़ दिया गया था, परन्तु बच गया। अन्त में उसने पिता को मारा और माता से यह न जानते हुए कि वह उसकी माता है, शादी कर ली। बालिका पिता से प्रेम करती है, माता से घृणा। इस 'मातृ-विरोधी ग्रन्थि' को मनोविश्लेषणवादी 'एलेक्ट्रा कम्प्लेक्स'

(Elektra complex) कहते हैं क्योंकि 'एलेक्ट्रा'-नामक लड़की ने पिता के प्रेम में, अपने भाई की सहायता द्वारा, अपनी माता का वध कर दिया था। इस प्रकार मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार 'यौन-प्रेरक' (Sex drive) शिशु में प्रारंभ से होता है। उनका कहना है कि धीरे-धीरे जब बालक देखता है कि पिता उससे अधिक शक्तिशाली है, या बालिका देखती है कि वह अपनी माता का कुछ बिगाड़ नहीं सकती, तो छः वर्ष की आयु तक वे उनसे सुलह कर लेते हैं। सुलह इसलिए भी कर लेते हैं क्योंकि एक तरफ़ तो बालक को यह देखकर कि पिता उसकी माता से प्रेम करता है ईर्ष्या होती है, परन्तु दूसरी तरफ़ वह पिता को बड़ा समझकर उसका अनुकरण भी करना चाहता है। वह अपने को यों समझा लेता है कि जैसे पिता उसकी माँ को प्यार करता है, वैसे वह भी करता है। यह सुलह एक प्रकार का 'समाजीकरण' (Socialization) है। जो इस प्रकार सुलह नहीं कर सकते, उन्हें क्योंकि समाज में ये भावनाएँ दबानी पड़ जाती हैं अतः उनके व्यवहार में अनेक असाधारण बातें उत्पन्न हो जाती हैं, वे स्वस्थ-साधारण बच्चों का-सा व्यवहार नहीं करते।

२. बाल्यावस्था (Childhood)

शैशवावस्था, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में भेद

शैशवावस्था की तरह बाल्यावस्था का समय भी छः वर्ष का है। यह सात वर्ष की आयु से बारह वर्ष की आयु तक रहती है। जैसे हमने शैशवावस्था में देखा था कि पहले तीन साल वृद्धि होती है—इन तीन सालों में शिशु 'संचय' करता है, अगले तीन सालों में संचित ज्ञान का 'परिपाक' होता है, इन सालों में

'संचय' कुछ देर के लिए रुक-सा जाता है, उसी तरह बाल्यावस्था के पहले तीन सालों में—सात से नौ वर्ष की आयु तक—'संचय' होता है, अगले तीन सालों में—दस से बारह वर्ष की आयु तक 'परिपाक' होता है। बाल्यावस्था के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि शैशवावस्था में एकदम इस नई-सी दुनिया को देखकर कई साल बीत चुके होने के कारण बालक अब स्थिर-चित्त हो चुका होता है, उसके लिए दुनिया कोई नई चीज नहीं रह जाती। परन्तु बाल्यावस्था से किशोरावस्था में पग धरते ही यह स्थिर-चित्तता फिर नष्ट हो जाती है, और किशोर फिर-से शिशु की तरह अस्थिर-सा हो जाता है। जैसे शिशु के लिए दुनिया नई थी, वैसे किशोर के शरीर तथा मन में जो एकदम नये-नये परिवर्तन होने लगते हैं उनसे किशोर को भी दुनिया फिर नई-सी दीखने लगती है, और वह शिशु की तरह डगमगाया-सा फिरता है। शैशवावस्था तथा किशोरावस्था में दुनिया का जो नयापन होता है वह बाल्यावस्था में नहीं होता। बाल्यावस्था में बालक में 'रचनात्मक-प्रवृत्ति' (Constructiveness), 'उत्सुकता', (Curiosity) तथा 'अनुकरण' (Imitation) आदि 'प्रेरक' विशेष रूप से काम करने लगते हैं। इनके अतिरिक्त इस आयु में बालक में अपने ही ढंग के 'सामाजिक' (Social) तथा 'नैतिक' (Moral) विचार विकास पाने लगते हैं। इनके विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है।

बालक में दस वर्ष बाद 'सामाजिक' तथा 'नैतिक' भाव का उदय

वैसे तो शुरू से ही बच्चे में सामाजिक-भावना काम करती है, परन्तु बचपन में वह इकला खेल भी लेता है। सात वर्ष की

आयु के बाद वह इकला नहीं खेलता। दस वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते वह स्वयं अपने कोई-न-कोई साथी चुन लेता है, और कुछ दिन बाद वह अपने मोहल्ले के किसी-न-किसी गिरोह का अंग बन चुका होता है। हर शहर, हर मोहल्ले, हर गली में बच्चों के गिरोह बने होते हैं जिनका शायद माता-पिता को ज्ञान भी नहीं होता। पहले तो 'समाजीकरण' की प्रक्रिया में माता-पिता को अपना दिमाग़ लड़ाना पड़ता है, अब यह प्रक्रिया माता-पिता के हाथ से निकल कर साथी-मित्रों और समाज के हाथ में चली जाती है। पहले बच्चा अधिक समय घर में बिताता था, अब घर को वह खाने, पीने और सोने की जगह मात्र समझता है, अपना असली स्थान वह घर के बाहर ही अपने 'गिरोह' में बना लेता है। इस 'समाजीकरण' की प्रक्रिया में से ही बालक के 'नैतिक-भाव' का उदय तथा निर्माण होता है। वह कैसे? 'समाजीकरण' के बाद 'नैतिक-भाव' बनने की प्रक्रिया बड़ी दिलचस्प है। इस गिरोह के कोई लिखित नियम नहीं होते, निश्चित उद्देश्य नहीं होते, परन्तु गिरोह का प्रत्येक सदस्य 'गिरोह-परस्त' होता है। अपने इन साथियों की वाह-वाह पाने के लिये बालक अपने माता-पिता से, गुरुओं से, किसी से भी झूठ बोल सकता है, गिरोह के लिये किसी तरह का भी त्याग कर सकता है। किसी गिरोह का सदस्य होते ही बालक अपना 'नैतिकता' का एक माप-दंड बना लेता है, और उसी के अनुसार व्यवहार करता है। माता-पिता तथा शिक्षक बालक को ऐसा गिरोह बनाने में सहायता दे सकते हैं जिससे उनके चरित्र का निर्माण हो। जब कोई बालक सुधरता नज़र न आये, तो

उसके गिरोह के साथियों की तलाश करनी चाहिये और उन द्वारा बालक पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करना चाहिए। गिरोह की प्रेरणा माता-पिता की प्रेरणा से अधिक बलवती सिद्ध होती है।

शिशु में प्रेम तथा यौन-भावना

शैशवास्था में प्रेम तथा यौन-भावना का विश्लेषण करते हुए हमने कहा था कि छः वर्ष की आयु में बालक अपने पिता से और बालिका अपनी माता से मानो सन्धि कर लेते हैं। इस अवस्था में बालक की प्रेम तथा यौन-भावना घर के क्षेत्र से बाहर जाने लगती है। लड़का अपने साथ के लड़कों के साथ प्रेम करने लगता है, लड़की अपनी साथिन लड़कियों के साथ प्रेम करने लगती है। शैशवावस्था तथा किशोरावस्था में 'विभिन्न-योनिता' (Hetero-sexuality) का नियम काम करता है, इन अवस्थाओं में विरोधी-लिंग के व्यक्ति के प्रति आकर्षण होता है, बाल्यावस्था में 'सम-योनिता' (Homo-sexuality) का नियम काम करता है, इस अवस्था में लड़कों का लड़कों के साथ और लड़कियों का लड़कियों के साथ प्रेम पाया जाता है।

३. किशोरावस्था (Adolescence)

किशोर में शिशु की-सी अवस्था आती है

किशोरावस्था का समय भी छः वर्ष का होता है। यह तेरह वर्ष की अवस्था से अठारह वर्ष की अवस्था तक रहती है। किशोरावस्था में फिर शैशवावस्था के-से लक्षण प्रकट होने लगते हैं। शैशवावस्था से बाल्यावस्था में आने पर बालक में

जो स्थिरता आ गई थी, अब वह फिर खो जाती है, क्योंकि जैसे शिशु एक नई दुनिया में आया था, वैसे किशोर भी भीतर के शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों के कारण एक नई ही दुनिया में आता है। किशोरावस्था के आते ही शरीर तथा मन में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं कि मनोवैज्ञानिकों में इन परिवर्तनों के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं :—

(क) 'त्वरित-विकास' का सिद्धान्त (Theory of Saltatory Development)

(ख) 'क्रमशः-विकास' का सिद्धान्त (Theory of Gardual Development)

'त्वरित-विकास' का सिद्धान्त

श्रीयुत् स्टैनले हॉल (Stanley Hall) ने १९०४ में 'किशोरावस्था' (Adolescence) पर एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। उन्होंने कहा कि किशोरावस्था के आते ही 'शरीर' तथा 'मन' में बिल्कुल ऐसी नवीनता आ जाती है कि जिसका शैशवावस्था तथा वाल्यावस्था से सम्बन्ध ही नहीं होता। 'किशोरावस्था' मानो एक नया जन्म होता है। मनुष्य के लिए जिन ऊंची मानसिक-शक्तियों की आवश्यकता होती है, वे इस समय उत्पन्न होती हैं। सुदूर-भूत में जब कभी मानव-समाज ने अपने पुराने बन्धनों को तोड़ कर उन्नति की थी, उसी की मानो किशोरावस्था में पुनरावृत्ति होती है, और बालक एकदम नयेपन में भर जाता है। इस अवस्था में आते ही बालक ऊंचाई और वज़न में पहले की अपेक्षा शीघ्रता से बढ़ने लगता है। भिन्न-भिन्न अंगों का विकास नये ढंग से होने लगता है। जनने-

न्द्रियों में तो बिल्कुल परिवर्तन आ जाता है । मानसिक परि-र्वर्तन भी एकदम नवीनता उत्पन्न कर देते हैं। पहले बालक में 'स्वार्थ-वृत्ति' थी, अब उसमें 'परार्थ-वृत्ति' उत्पन्न हो जाती है। पहले उसकी संसार के प्रति प्रतिक्रिया को 'सहज-क्रिया' (Reflex action) कहा जा सकता था—स्थिति उत्पन्न हुई और उसके प्रति जो भी स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो सकती थी वह कर देता था, परन्तु अब अपनी प्रतिक्रिया को वह सोच-समझकर करने लगता है, उसकी प्रतिक्रियाएं तुरन्त न होकर 'ठहरकर तथा सुव्यवस्थित' (Delayed and better organised) होने लगती हैं। यह 'समाजीकरण' के कारण है। पहले उसमें विचार को कोई स्थान न था, अब वह 'विचार'-'मनन'-'निर्णय' आदि उच्च मानसिक-प्रतिक्रियाएं करने लगता है। उसमें जो नव-जीवन फूट पड़ता है उसका उद्गम स्थान हृदय होता है—वह गाता है, भविष्य के सपने लेता है, अपनी नई दुनिया बनाने लगता है। इस समय उसमें घूमने की प्रवृत्ति जाग जाती है, कभी-कभी वह घर से भाग खड़ा होता है। 'त्वरित-विकास' के समर्थक श्रीयुत् स्टेनले हॉल का कथन है कि ये सब परिवर्तन एकदम, मानो 'छलाँग' (Saltater) मार कर आ खड़े होते हैं, इनका बीज किशोर के पहले जीवन में नहीं पाया जाता।

'क्रमशः विकास' का सिद्धान्त

स्टेनले हॉल के विचार के विपरीत वर्तमान मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि किशोरावस्था के ये परिवर्तन अचानक नहीं होते, इनका बीज पहली अवस्थाओं में पाया जाता है। श्रीयुत्

थॉर्नडाइक (Thorndike) का कथन है कि केवल 'यौन-भावना' (Sex instinct) ही ऐसी जान पड़ती है जो एकाएक प्रकट होती मालूम देती है, अन्य भावनाओं में तो 'क्रमशः विकास' सिद्ध करना कोई कठिन बात नहीं है। 'यौन-भावना' का भी विश्लेषण किया जाय, तो इसमें भी किशोरावस्था से बहुत पहले से विकास होना शुरु हो जाता है। किंग (King) महोदय का कथन है कि इसमें सन्देह नहीं कि 'शिशु', 'बालक' तथा 'किशोर' में भेद है, परन्तु इनके भेद को अगर बारीकी से देखें तो मालूम पड़ेगा कि शिशु से बालक तथा बालक से किशोर बनने में अनेक बारीक-बारीक श्रेणियाँ हैं जिनमें से गुज़रता हुआ 'शिशु' ही 'किशोर' बन जाता है, 'किशोर' की अवस्थाएं अचानक नहीं आ टपकतीं। जिस प्रकार एक ऋतु के बाद दूसरी ऋतु आ जाती है, जो नई होती है, परन्तु उसके आगमन की तैयारी पहली ऋतु के द्वारा हो चुकी होती है, इसी प्रकार बालक की अवस्थाएँ एक-दूसरे से बंधी हैं।

इस स्थल पर यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि जैसे शैशव तथा बाल्य-काल में पहले तीन साल 'संचय' तथा अगले तीन साल 'परिपाक' के माने गये हैं, वैसे किशोरावस्था में भी पहले तीन साल—१३,१४,१५ 'संचय' के, और अगले तीन साल १६,१७,१८—'परिपाक' के हैं। १९ के बाद 'युवावस्था' शुरु हो जाती है जिस पर हमें यहाँ कुछ नहीं लिखना।

किशोरावस्था में शारीरिक-परिवर्तन

(क) किशोरावस्था में बालक-बालिका के सभी अंगों में वृद्धि होने लगती है। प्रो० की (Key) ने स्वीडन के १५

हज़ार लड़कों और ३ हज़ार लड़कियों की परीक्षा करके पता लगाया कि १४ से १६ साल की आयु में लड़कों की ऊँचाई तथा वजन में शीघ्रता से वृद्धि होती है। लड़कियों की शारीरिक-वृद्धि लड़कों की अपेक्षा कुछ पहले होती है। लड़कियों को इस आयु में रजःस्राव होने लगता है। इस समय बच्चों के अंग दृढ़ हो जाते हैं; लड़कों की वाणी में कर्कशता तथा लड़कियों की वाणी में कोमलता आ जाती है; पट्ठे दृढ़ होने लगते हैं; शारीरिक-परिश्रम अधिक किया जा सकता है; भिन्न-भिन्न इन्द्रियों पर अधिकार बढ़ जाता है। इस सब परिवर्तन का कारण क्या है?

(ख) 'शरीर-रचना-शास्त्रियों' का कथन है कि इन परिवर्तनों का कारण शरीरके भीतर वर्तमान 'ग्रन्थियाँ' (Glands) हैं। जब मुख से लार टपकती है, तो यह 'ग्रन्थियों' का ही स्राव होता है। यह 'स्राव' दो तरह का होता है—'आभ्यन्तर-स्राव' (Internal secretion) तथा 'वहिःस्राव' (External secretion)। कई ग्रन्थियाँ केवल 'आभ्यन्तर-स्राव' उत्पन्न करती हैं—यथा 'थॉयराइड' तथा 'एड्रिनल'-ग्रन्थियाँ। कई ग्रन्थियाँ केवल 'बाह्य-स्राव' उत्पन्न करती हैं—यथा मुख की 'लाळा-ग्रन्थियाँ' जिन्हें सैलीवरी ग्लैंड कहते हैं। कई ग्रन्थियाँ ऐसी होती हैं, जो 'आभ्यन्तर' तथा 'बाह्य' दोनों प्रकार का स्राव उत्पन्न करती हैं—यथा 'जिगर' तथा बालकों में 'अण्डकोश' (Testes) एवं बालिकाओं में 'डिम्ब-कोश' (Ovaries)। बालकों में अण्ड-कोशों तथा बालिकाओं में डिम्ब-कोशों के 'आभ्यन्तर-स्राव' से ही किशोरावस्था के परिवर्तन होते हैं।

बालक के इस स्राव को 'वीर्य' तथा बालिका के इस 'आभ्यन्तर-स्राव' को 'रज' कहते हैं। 'वीर्य' का वीर्य-कण तथा 'रज' का रजःकण बाह्य-स्राव हैं, और इन बाह्य-स्रावों के मेल से गर्भ ठहरता है। आभ्यन्तर-स्राव का शरीर में खपना ही शारीरिक तथा मानसिक उन्नति का साधन है। इस 'आभ्यन्तर-स्राव' (Internal secretion) को हॉरमोन (Hormone) कहते हैं। कुविचार से आभ्यन्तर-स्राव रुक कर बाह्य-स्राव का रूप धारण कर लेता है। ब्रह्मचर्य का यही अर्थ है कि अण्ड-कोशों तथा डिम्ब-कोशों के 'आभ्यन्तर-स्राव' में बाधा न पहुँचाई जाय। किशोरावस्था में वीर्य के 'बहिः स्राव' से शरीर क्षीण हो जाता है। बालिका में उस प्रकार का यौन-बहिःस्राव नहीं होता जैसा बालक का होता है। बालक को शरीर-रचना का यह तथ्य समझा दिया जाय तो बुरी आदतों से बच जाता है, ब्रह्मचर्य से रहने लगता है।

(ग) इस समय किशोर-किशोरी के शरीर में शक्ति का जो प्रवाह उमड़ रहा होता है उसे वह भिन्न-भिन्न क्रियाओं में प्रकट करते हैं। वे टाँग हिलाते हैं, त्यौरियाँ चढ़ाकर बैठते हैं, नाखूनों को दाँतों से कुतरा करते हैं, हिलते-डुलते रहते हैं। इस समय उनमें 'स्नायवीय-शक्ति' (Nervous energy) की जो धारा बह रही है उसी का प्रकाश भिन्न-भिन्न बेढंगी क्रियाओं से हुआ करता है। बहुधा समय बीतने पर ये लुप्त हो जाती हैं इसलिए इन पर अधिक परेशान नहीं होना चाहिए। इस 'अतिरिक्त-शक्ति' के समुचित 'विलयन' के लिये किशोर को हर समय किसी काम में लगे रहना चाहिये। जिमनास्टिक आदि

खेलों से शरीर की यह शक्ति ठीक दिशा में चल निकलती है।

किशोरावस्था में मानसिक-परिवर्तन

(क) इस समय किशोर-किशोरी के स्वभाव में कई प्रकार के परिवर्तन आ जाते हैं। उनका बहुत-सा समय कल्पना के जगत् में बीतता है। छोटे बच्चे और किशोर की कल्पना में भेद यह होता है कि बच्चा तो 'यथार्थ' और 'काल्पनिक' में भेद ही नहीं जानता; किशोर इस भेद को जानते हुए भी 'यथार्थ' जगत् की 'विफलताओं' (Frustrations) को 'काल्पनिक'-जगत् में पूर्ण किया करता है। कल्पनामय-जगत् उसे कवि, उपन्यास-लेखक, चित्रकार भी बना सकता है, निठल्ला भी। इसीलिए किशोर का 'समाजीकरण' (Socialization) इसी में है कि समाज की यथार्थताओं के साथ मुठभेड़ करने के लिये उसे तय्यार किया जाय।

(ख) इस समय किशोर-किशोरी बचपन से निकल चुके होते हैं, लेकिन माता-पिता उन्हें बच्चा ही समझे जाते हैं। वे नहीं चाहते कि कोई उन्हें बच्चा समझे। इसका उनके पास सिर्फ़ एक ही उपाय रह जाता है। जो उन्हें अब भी बच्चा ही समझ कर बरतते हैं, उनके प्रति नफ़रत का व्यवहार प्रकट कर वे अपने व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं। ख़ासकर अगर किसी अन्य व्यक्ति के सम्मुख किशोर-किशोरी के साथ बच्चों का-सा व्यवहार किया जायगा, तब तो वे अपने व्यवहार से यह व्यक्त किये बग़ैर रहेंगे ही नहीं कि वे बच्चे नहीं हैं। किशोर-किशोरी यह नहीं चाहते कि आप शब्दों द्वारा यह कहें कि आप उनके व्यक्तित्व का आदर करते हैं, वे आपके व्यवहार से परिणाम

निकालते हैं कि आप उनकी स्वतन्त्र हस्ती स्वीकार करते हैं या नहीं।

(ग) इस आयु में परस्पर विरोधी अवस्थाएँ भी पायी जाती हैं। कभी आशा तो कभी निराशा, कभी उत्साह तो कभी उदासीनता। ये इस समय के एक तरह के दौरे हैं, इन पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिये। इस प्रकार के दौरों का कारण यह है कि आभ्यन्तर-परिवर्तनों से उसके शरीर तथा मस्तिष्क का एकदम इतना विकास हो जाता है कि वह सब काम कर डालना चाहता है, परन्तु कर नहीं पाता, इसी का प्रतिक्षेप उसके व्यवहार में आशा-निराशा, उत्साह-अनुत्साह आदि विरोधी अवस्थाओं में पाया जाता है।

(घ) यह 'वीर-पूजा' (Hero-worship) का समय होता है। शिशु भी तो माता-पिता की पूजा करता है। शिशु से किशोर में भेद यह है कि किशोरावस्था में माता-पिता से हटकर पूजा के विषय कभी गुरुजन हो जाते हैं, कभी देश के कोई महान् नेता, कभी इतिहास का कोई आदर्श व्यक्ति। इस समय बालक में जो नई भावनाएँ जागृत होती हैं उनकी जहाँ भी उसे पूर्णता नज़र आती है उसी को वह अपना आदर्श बना लेता है। शहरों के बच्चे तो प्राय: सिनेमा तथा नाटकों में जाया करते हैं। वे सिनेमा-पात्रों में से ही किसी को अपना आदर्श चुन लेते हैं। आजकल के किशोरों में जितनी सिनेमा-स्टारों की चर्चा होती है, उतनी बड़े लोगों में नहीं। इसका यही कारण कि है यह आयु ही अपना कोई आदर्श-वीर चुनने की होती है।

(ङ) इस समय किशोर कई तरह के अपराध करता है।

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि इस आयु में किशोर कोई-न-कोई अपराध करते ही हैं। झूठ, चोरी, उद्दण्डता—कौन-सा अपराध नहीं जो इस समय बालक नहीं करते। बालक ही क्या, अगर माता-पिता तथा शिक्षक अपने जीवन के पन्ने पलट कर देखें तो कौन-सी बात है जो उन्होंने इस आयु में स्वयं न की हो? परन्तु यह अवस्था स्वयं निकल जाती है।

(च) किशोरों में इस समय विचरण की प्रवृत्ति, जो शिशु के इधर-उधर फिरने या जिज्ञासा का ही दूसरा रूप है, उग्र रूप धारण कर लेती है। कई तो स्कूल की परिधि से तंग आकर और यह समझ कर कि घर रहेंगे तो स्कूल जाना ही पड़ेगा, या माता-पिता की इस इच्छा से तंग आकर कि उनकी सन्तान एकदम सब विद्याओं में पारंगत हो जाय, या माता-पिता के कठोर नियन्त्रण से घबरा कर घर छोड़ देते हैं। माता-पिता की अदूरदर्शिता के कारण वे आवरा हो जाते हैं। घूमने की इस प्रवृत्ति के कारण कई लोग जीवन में बहुत सफलता भी प्राप्त कर लेते हैं।

(छ) शिशु में तो 'स्वार्थ-भावना' प्रबल होती है, परन्तु किशोरावस्था में 'परार्थ-भावना' प्रबल हो जाती है। किशोर को त्याग का जीवन आकर्षित करने लगता है। वह देश तथा जाति के लिये अपने को बलि देने को उद्यत रहता है। इसी समय भगतसिंह जैसे युवकों की आत्मा जाग उठती है। वे समाज की सेवा के अवसर ढूंढते हैं। किसी देश का इतिहास ऐसा नहीं है जिसमें किशोरों ने स्वतन्त्रता के युद्ध में नेताओं का साथ न दिया हो, उन्होंने सीने में गोलियाँ न खाई हों। यह

'परार्थ-भावना' ही आगे चलकर सन्तान के लिये माता-पिता के त्याग का रूप धारण कर लेती है ।

किशोरावस्था में प्रेम तथा यौन-भावना

शैशवावस्था में प्रेम-भावना अपने तक सीमित होती है। शिशु अपने अंगों से ही खेलता है । अंगूठा मुंह में देता है, अपने पैरों को पकड़ता है। कुछ बड़ा होने पर लड़की अपने पिता को और लड़का अपनी माँ को प्यार करता है। वाल्यावस्था में आकर यह प्रेम-भावना दूसरा रूप धारण करती है। लड़के लड़कों के साथ और लड़कियाँ लड़कियों के साथ प्रेम करती हैं, और उन्हीं के साथ खेलती हैं। किशोरावस्था में फिर यह प्रक्रिया उलटती है, और शिशु की तरह जैसे लड़का माता को, और लड़की पिता को प्यार करती थी, वैसे किशोर किशोरियों की तरफ़ और किशोरियाँ किशोरों की तरफ़ आकर्षित होती हैं। प्रकृति ने जीवन को विनाश से बचाने के लिये प्रजनन-क्रिया का सहारा लिया हुआ है, और उसी की तरफ़ मानव-जीवन किशोरावस्था में बढ़ने लगता है। इस समय की 'प्रेम-भावना' के साथ 'काम-भावना' का 'उद्वेग' (Emotion) सम्मिलित हो जाता है। यह अवस्था 'यौन-भावना' (Sex instinct) के विकास की अवस्था है।

४. यौन-ज्ञान (Sex Education)

शिशु, वालक तथा किशोर—सभी में 'यौन-भावना' (Sex instinct) है—यह हमने देखा। तभी तो इन सब को जननेन्द्रियों के विषय में कुछ-न-कुछ ज्ञान भी अवश्य रहता है। शुरु-शुरु में वालक को इन अंगों के विषय में जिज्ञासा

स्वाभाविकता के क्षेत्र में होती है, वह प्राकृतिक होती है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह देखता है कि समाज का चारों तरफ़ का वातावरण इन अंगों के सम्बन्ध में चुप्पी का है, त्यों-त्यों उस की जिज्ञासा अस्वाभाविक रूप धारण करती चली जाती है, अप्राकृतिक होती जाती है। पहले वह खुले तौर से इन अंगों के सम्बन्ध में जानना चाहता था, माता-पिता का विरोध देख कर वह छिपे-छिपे इन का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। इस गुप-चुप का परिणाम यह होता है कि उस का इन अंगों के सम्बन्ध में जो भी ज्ञान होता है वह गन्दे साथियों से उसे मिलता है। अगर किसी तरह बालक की इन अंगों के विषय में जिज्ञासा को रोका जा सकता तब तो दूसरी बात थी, परन्तु होता यह है कि जिज्ञासा कम होने के बजाय प्रतिरोध पाकर और उग्र हो जाती है। इस अवस्था का परिणाम बालक के मानसिक-विकास पर अच्छा नहीं पड़ता, उस में जननेन्द्रियों के सम्बन्ध में अनेक 'ग्रन्थियाँ' (Complexes) पड़ने लगती हैं। यह सब-कुछ देख कर मनोवैज्ञानिकों की राय है कि जो ज्ञान बच्चे ने कहीं-न-कहीं से प्राप्त कर ही लेना है उसे ठीक रास्ते से ही क्यों न दिया जाय, गन्दे साथियों से मिलने के स्थान में माता-पिता तथा गुरुओं से ही वह ज्ञान उसे क्यों न मिले। इसी विचार-धारा का परिणाम है कि जैसे पहले 'यौन-ज्ञान' के विषय में माता-पिता मुँह नहीं खोलते थे, वैसे अब इस विषय का ज्ञान शुद्ध-स्रोत से देना वे आवश्यक समझने लगे हैं। हले माता-पिता-अध्यापक इस विषय पर चुप रहते थे, ालक को शुद्ध-पवित्र समझते थे, अब यह देखकर कि बालक तो ुद्ध-पवित्र नहीं होता, ये सब बातें कहीं-न-कहीं से ढूंढ लाता है,

अब माता-पिता ने इस विषय पर चुप रहना छोड़ दिया है ।

अब यह समझा जाने लगा है कि मानव-शरीर में जिस प्रकार फेफड़े, जिगर और पेट है, और उन्हें अपना-अपना काम करना होता है, उसी प्रकार मनुष्य-शरीर में उत्पादक अवयव भी हैं । पेट का वर्णन करते हुए किसी को लज्जा नहीं आती, झिझक नहीं होती, फिर इन अंगों का वर्णन करते हुए शर्म की कौन-सी बात है? इस दृष्टि से बालकों को 'यौन-ज्ञान' देते हुए 'शरीर-रचना-विज्ञान' (Anatomy) तथा 'शरीर-क्रिया-विज्ञान' (Physiology) का परिचय करा देना उत्तम है । साथ ही 'प्राणि-विज्ञान' (Biology) पढ़ा देने से बालक को यह ज्ञान हो जाता है कि प्रजनन की प्रक्रिया प्रकृति में सर्वत्र काम कर रही है, यह कोई गन्दी या छिपाने वाली चीज़ नहीं है । सब से बड़ी आवश्यकता यह है कि इस विषय को वैज्ञानिक ढंग से समझाया जाय, इस विषय को सिर्फ़ धार्मिक या नैतिक ही न समझा जाय । इस सम्बन्ध में हमारी 'ब्रह्मचर्य-सन्देश'-पुस्तक पढ़ने से ज्ञात हो जायगा कि वैज्ञानिक ढंग पर इस विषय का प्रतिपादन किस तरह किया जा सकता है ।

यह समझना कि जननेन्द्रिय के सम्बन्ध में ज्ञान दिया जायगा तो बच्चा और अधिक इसकी गहराई में जाने का प्रयत्न करेगा, ग़लत है । ज्ञान तो उसे मिलता ही रहता है । जो वस्तु अवश्यं-भावी है उसे हम कहाँ तक रोक सकते हैं? उसका स्रोत शुद्ध कर देने से 'यौन-ज्ञान' के साथ जो गन्दगी लग गई है वह हट सकती है । बर्ट्रेंड रसल ने कहीं लिखा है कि अपने सात वर्ष के बच्चे को उसने 'बच्चा कहाँ से आता है'-'कैसे पैदा होता

है'—आदि सब-कुछ समझा दिया। बच्चे ने जब सब-कुछ सुन लिया तो खेलने चला गया, उसके बाद उसने इस विषय में कोई दिलचस्पी ही नहीं दिखाई। दिलचस्पी तो बालक तब दिखाता है जब उसे यह ज्ञान होता है कि मुझ से कुछ छिपा लिया गया है। छिपाया भी न जाय, वैज्ञानिक ढंग से सब-कुछ बता भी दिया जाय—इसके लिये माता-पिता तथा शिक्षकों को स्वयं इस विषय का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना आवश्यक है।

८

योनि-भेद—बालक-बालिका-सम्बन्ध

(SEX-DIFFERENCE—BOY-GIRL RELATIONSHIP)

हमारे समाज में बालक तथा बालिका, पुरुष तथा स्त्री में आधार-भूत भेद माना जाता है। बालक की जितनी देख-रेख होती है, बालिका की उतनी नहीं होती, पुरुष को समाज में जो स्थान दिया जाता है, स्त्री को वह स्थान नहीं दिया जाता। बालक का शुरु से ही इस प्रकार लालन-पालन होता है जैसे वही सब-कुछ है, बालिका की तरफ़ कुछ ध्यान नहीं दिया जाता, पुत्र के लिये लोग व्याकुल रहते हैं, पुत्री के लिये उतनी चाह नहीं दीखती। प्रश्न यह है कि बालक तथा बालिका के सम्बन्ध में यह भेद क्या 'प्रकृति' का बनाया हुआ है, या 'मनुष्य' का बनाया हुआ है—मनुष्य का अर्थात् 'समाज' का बनाया हुआ है ?

१. 'शारीरिक' तथा 'प्राणि-शास्त्रीय' भेद

जो लोग कहते हैं कि बालक तथा बालिका में जन्मगत भेद है, केवल समाज का बनाया हुआ भेद नहीं, उन लोगों का कहना है कि प्रकृति ने बालक तथा बालिका के शरीर का निर्माण करते हुए दोनों की रचना में ही भेद कर दिया है। यह 'शारीरिक' (Physiological) अथवा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) भेद किसका बनाया हुआ है ? समाज तो इस भेद को नहीं बनाता, यह तो बालक-बालिका जन्म से लेकर आते

हैं, प्रकृति से लेकर आते हैं। उदाहरणार्थ, स्त्री का कद पुरुष से छोटा होता है। हरेक स्त्री का नहीं, परन्तु आनुपातिक-दृष्टि से स्त्री पुरुष से कद में छोटी है। अमरीका में पुरुष की आनुपातिक ऊँचाई ५ फ़ीट ८ इंच है, वज़न १४५ पौंड है; वहाँ स्त्री की ऊँचाई ३ फ़ीट ३ इंच और वज़न १२५ पौंड पाया गया है। शारीरिक-विकास में स्त्रियाँ पुरुषों से पिछड़ी हुई हैं। समाज-शास्त्री इसका यह उत्तर देते हैं कि स्त्री का सदियों से पालन-पोषण ही हमारे समाज में इस प्रकार हुआ है जिससे उसकी ऊँचाई तथा वज़न पुरुषों से कम दीखता है, सामाजिक-अवस्थाओं के बदल जाने पर यह भेद नहीं रह सकता। हम समझते हैं कि स्त्रियाँ कमज़ोर शरीर होने के कारण मेहनत के काम नहीं कर सकतीं, मज़दूरी भी हम पुरुषों को ज़्यादा और स्त्रियों को कम देते हैं, परन्तु आज हमारे समाज में स्त्री की स्वतन्त्रता के बाद स्त्रियों ने जो शारीरिक-विकास शुरु किया है, उनकी फ़ुटबाल और हाकी की टीमें बनने लगी हैं, वे साम्मुख्य करती हैं, टूर्नामेंटों में भाग लेती हैं, घुड़सवारी, तैरी आदि में पुरुषों से आगे निकलने का प्रयत्न करती हैं—इस सब से ज्ञात होता है कि शरीरगत यह भेद प्रकृतिजन्य नहीं है, हमारा अपना बनाया हुआ है। बालिका को उन सामाजिक-बन्धनों में न रखा जाय जिनमें वह अब तक सदियों से पड़ी रही हैं, तो ये शारीरिक-भेद अपने आप मिट जाँय।

कई लोग कहते हैं कि पैदायिश के समय बालकों का मस्तिष्क बालिकाओं के मस्तिष्क से लम्बाई, चौड़ाई, गहराई तीनों बातों में बड़ा होता है। ऐसे कथनों के आधार पर कई लोगों का

कहना है कि मस्तिष्क-सम्बन्धी इस 'शारीरिक' (Physiological) अथवा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) भेद के कारण भी स्त्री तथा पुरुष के ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता में भेद होना अवश्यंभावी है। इस युक्ति का उत्तर देते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल (Mill) ने कहा है कि तब तो लम्बे-चौड़े स्थूलकाय व्यक्ति में दुबले-पतले व्यक्ति की अपेक्षा चमत्कारिक बुद्धि होनी चाहिये, हाथी को बुद्धि में मनुष्य से कहीं आगे बढ़ा हुआ होना चाहिये। मिल महोदय का कहना था कि मस्तिष्कों को मापने और तोलने वाले एक शरीर-शास्त्री ने उन्हें बतलाया कि अब तक सब से भारी मस्तिष्क उसने एक स्त्री का ही पाया था। कर्वीयर का मस्तिष्क सब से अधिक भारी समझा गया था, परन्तु मिल महोदय के मित्र ने एक स्त्री का मस्तिष्क कर्वीयर के मस्तिष्क से भी अधिक भारी पाया। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क का भारी होना मात्र उसकी अपेक्षाकृत अधिक शक्ति का परिचायक नहीं हो सकता। 'भार' (Quantity) के अतिरिक्त 'गुण' (Quality) भी किसी वस्तु की उत्कृष्टता का पता लगाने में आवश्यक है। समाज-शास्त्री यह भी कह सकते हैं कि सदियों से स्त्री के मस्तिष्क को बहुत कम काम में लाया गया है, इससे भी उस के मस्तिष्क के वज़न में हल्के होने की सम्भावना है। अगर वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में उसे मस्तिष्क का पर्याप्त काम करना पड़ेगा तो उसका वज़न पुरुष जितना ही हो जायगा। यह हो सकता है कि पुरुष का मस्तिष्क अगर भारी है, तो सामाजिक-परिस्थितियों के कारण बड़ा हो।

कई लोगों का कहना है कि 'शारीरिक' (Physiological) तथा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) अनेक भेदों के विषय में तो उक्त बातें कही जा सकती हैं, उन्हें सामाजिक-परिस्थिति का परिणाम कहा जा सकता है, परन्तु इन सब के होते हुए एक 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) भेद ऐसा ज़रूर है जो बालक तथा बालिका का आधारभूत भेद है, जिस भेद से कोई इन्कार नहीं कर सकता। जैसे वृक्ष का बीज होता है, बीज में वृक्ष ही मानो सिमिट कर बैठा होता है, वैसे पुरुष का अपना बीज है, स्त्री का अपना बीज है, और इन दोनों बीजों के अपने ही भिन्न-भिन्न रूप हैं । अगर पुरुष या स्त्री के बीज में किसी ख़ास प्रकार के गुण पाये जाते हैं, तो मानना पड़ेगा कि वे पुरुष या स्त्री के अपने निजी, जन्म-गत, 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) गुण हैं, समाजिक परिस्थिति की उपज नहीं हैं। पुरुष के बीज को 'वीर्य-कण' और अंग्रेज़ी में इसे 'स्पर्मैटोज़ोआ' (Spermatozoa) कहते हैं, स्त्री के बीज को 'रज:कण' और अंग्रेज़ी में इसे 'ओवा' (Ova) कहते हैं। ये बहु-वचनान्त शब्द हैं। 'स्पर्मैटोज़ोआ' का एक-वचन 'स्पर्मैटोज़ून' तथा 'ओवा' का एक-वचन 'ओवम' है। जब पुरुष का 'वीर्य-कण' स्त्री के 'रज:कण' से मिलता है तब गर्भ ठहरता है, और उसी के बढ़ने से बच्चा बनता है। पुरुष का 'वीर्य-कण' पुरुष में रहता है, स्त्री का 'रज:कण' स्त्री में रहता है। स्त्री के शरीर की यह विशेषता है कि किशोरावस्था आने पर उसके प्रजनन-प्रदेश से एक प्रकार का रुधिर बहता है, जो ३-४ दिन रहता है, फिर महीने भर के लिये बन्द हो जाता

है, फिर होता है, और इस प्रकार ४५-५० वर्ष की अवस्था तक यह सिलसिला चलता है। पुरुष में ऐसा-कुछ नहीं होता। पुरुष द्वारा जब स्त्री के शरीर में 'वीर्य-कण' का प्रवेश होता है, तो क्या प्रक्रिया होती है ? यह 'वीर्य-कण' बड़ी तेज़ी से 'रज:कण' की तलाश में स्त्री की योनि में आगे-आगे चल पड़ता है, और अगर स्त्री की योनि में 'रज:कण' मौजूद है, तो उसमें प्रवेश करके शिशु के जन्म को प्रारंभ कर देता है। 'वीर्य-कण' और 'रज:कण' के मिलने से तो जन्म प्रारम्भ होता है, भले ही यह जन्म बालक का हो, या बालिका का। इन दोनों के मिलने से किसका जन्म होगा इस विषय की हम यहाँ चर्चा नहीं कर रहे। हम केवल इतना कह रहे हैं कि पुरुष का बीज जो 'वीर्य-कण' है, उसमें पुरुष की जन्मगत प्रकृति सिमिटी बैठी है, स्त्री का बीज जो 'रज:कण' है उसमें स्त्री की जन्मगत प्रकृति सिमिटी बैठी है—यह तो मानना ही पड़ेगा। देखना यह है कि ये दोनों कैसा व्यवहार करते हैं, इनमें अपना प्रकृतिगत क्या भेद है। पुरुष के 'वीर्य-कण' की बाबत तो हमने यह देखा कि वह बड़ा गतिशील है, आगे-आगे बढ़ता हुआ स्त्री के 'रज:-कण' की तलाश में, योनि-द्वार में, अपने सामर्थ्य से, दूर तक निकल जाता है। स्त्री के 'रज:कण' का क्या हाल है ? स्त्री का 'रज:कण' जहाँ उत्पन्न होता है उस अंग को 'बीज कोश' और अंग्रेज़ी में 'ओवरी' (Ovary) कहते हैं। पुरुष के शरीर के बाहर एक थैली-सी में दो 'अंड कोश' लटकते हैं जिन्हें अंग्रेजी में 'टैस्टीकल्स' (Testicles) कहते हैं, स्त्री में शरीर के भीतर दायें-बायें दो थैलियाँ-सी होती हैं जिन्हें 'बीज-कोश' या 'ओवरी' कहते

हैं। पुरुष का 'वीर्य-कण' अपने 'अण्ड-कोशों' तथा स्त्री का 'रज:कण' अपने 'बीज-कोशों' से निकलता है। पुरुष का 'वीर्य-कण' तो क्रिया-शील होता है, अपनी आभ्यन्तर-गति से आगे बढ़ता है, स्त्री का 'रज:कण' क्रिया-शील नहीं होता, अपनी आभ्यन्तर-गति से आगे नहीं बढ़ता। 'बीज-कोशों' के साथ दोनों तरफ़ एक-एक प्रणालिका रहती है जिसे 'फ़िलेपियन ट्यूब' कहते हैं। इन प्रणालिकाओं में ऐसी गति होती है जिससे इनमें पड़ी हुई कोई वस्तु धकेली जाकर आगे बढ़ जाती है। जैसे मुख में भोजन चबाये जाने के बाद अपनी गति द्वारा नहीं अपितु प्रणालिका की गति द्वारा भोजन पेट में पहुँचता है, जैसे आंतों में जाकर भी भोजन अपनी गति द्वारा नहीं अपितु आंतों की गति द्वारा आगे-आगे धकेला जाता है, वैसे ही 'फ़िलेपियन-ट्यूब' में 'रज:कण' अपनी आभ्यन्तर-गति द्वारा नहीं अपितु ट्यूब की गति द्वारा आगे धकेला जाता है, इस प्रक्रिया से वह 'गर्भाशय' में पहुँचता है, और वहाँ 'वीर्य-कण' के सम्पर्क में आकर बच्चा बनना प्रारंभ होता है। इस सारे वर्णन का यह अर्थ है कि अगर पुरुष को हम 'वीर्य-कण' के रूप में और स्त्री को 'रज:कण' के रूप में समझने का यत्न करें, तो इन दोनों का जो आधार-भूत भेद है वह पुरुष तथा स्त्री का 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) भेद कहा जा सकता है। 'वीर्य-कण' क्रिया-शील (Active) है, 'रज:कण' अक्रियाशील (Passive) है, 'वीर्य-कण' मानो 'रज: कण' पर आक्रमण करता है—'आक्रान्ता' (Aggressive) है, 'रज:कण' अपने को 'वीर्य-कण' के सामने 'समर्पित' कर देता है—'आत्म-समर्पक' (Submissive) है। 'वीर्य-कण'

क्योंकि पुरुष का सिमिटा हुआ रूप है इसलिये यह कहना असंगत न होगा कि 'क्रियाशीलता' (Activity) तथा 'आक्रमण' (Aggressiveness) पुरुष का जन्मगत गुण है, 'रजःकण' क्योंकि स्त्री का सिमिटा हुआ रूप है इसलिये यह कहना भी असंगत न होगा कि 'अक्रियाशीलता' (Passivity) तथा 'आत्म-समर्पण' (Submissiveness) स्त्री का जन्म-गत गुण हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उस पर सामाजिक-मनोविज्ञान वेत्ताओं का कथन है कि यह सब-कुछ कह देने से कोई बात नहीं बनती। बात तो तब बनती अगर बालक का प्रारंभ 'वीर्य-कण' से ही, और बालिका का प्रारंभ 'रजः कण' से ही हुआ होता। बालक-बालिका दोनों 'वीर्य-कण' और 'रजःकण' के मिलने से बनते हैं, किसी एक से तो नहीं बनते, और इसीलिए कई बालक ऐसे पाये जाते हैं जो क्रियाशील न होकर अक्रियाशील होते हैं, आक्रान्ता न होकर आत्म-समर्पक होते हैं, इसके विपरीत कई बालिकायें अक्रियाशील न होकर क्रियाशील होती हैं, आत्म-समर्पक न होकर आक्रान्ता होती हैं।

तो फिर क्या बालक-बालिका में 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) कोई भेद नहीं है? बालक-बालिका में कोई 'आभ्यन्तर-ग्रन्थि' (Endocrine gland), कृत भेद अवश्य है जिसके कारण बालक के दाढ़ी-मूँछ आने लगते हैं, बालिका का चेहरा बालों रहित रहता है, बालक की माँस-पेशियाँ कठोर होती जाती हैं, बालिका की जहाँ-जहाँ माँस-पेशियाँ और हड्डियाँ हैं वहाँ चर्बी के कारण गोलाई आने

लगती है, बालक की आवाज़ किशोरावस्था आने के साथ-साथ कर्कश होती जाती है, वालिका की मधुर और संगीतमय होती जाती है, बालक के भीतर वीर्य बनने लगता है, बालिका के भीतर रज बनने लगता है, बालक को प्रतिमास उस प्रक्रिया में से नहीं गुज़रना पड़ता जिसे मासिक-धर्म कहते हैं, जो स्त्री-जाति की ही विशेषता है। वालक-बालिका की इन भिन्न-भिन्न आभ्यन्तर-ग्रन्थियों का उनकी भिन्नता पर क्या-क्या प्रभाव प्रड़ता है—इस विषय पर अभी अधिक अन्वेषण करने की आवश्यकता है। इनका शारीरिक-विकास पर क्या प्रभाव है, यह तो दोनों के शारीरिक-विकास को देखकर स्पष्ट ही है, प्रश्न यही है कि इनका मानसिक तथा भावनात्मक-विकास पर भी कोई प्रभाव है या नहीं।

२. लड़के-लड़कियों के भिन्न-भिन्न भेदों के उदाहरण

इस विषय पर निश्चित तौर पर तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जिन बातों के विषय में हम यह कहने लगते हैं कि ये बालक-बालिका की आधार-भूत भिन्नताएँ हैं, उन्हीं के विषय में समाज-शास्त्री यह कहने लगते हैं कि इन भिन्नताओं का कारण भिन्न सामाजिक-परिस्थिति है। फिर भी इस विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने जो परीक्षण किये हैं उनकी चर्चा यहाँ कर देना ज़रूरी है।

लड़के-लड़कियों के 'प्रेरकों' में भेद

सी० जे० वार्डन (C. J. Warden) ने चूहे-चूहियों पर कुछ परीक्षण किये। उसने चूहे-चूहियों को काफ़ी देर तक भूखा-प्यासा रखा, चूहों को चूहियों से अलग रखा, उन्हें अपने

से जुदा रखा। इसका परिणाम यह होना ही था कि भूख-प्यास आदि 'आधार-भूत-प्रेरक' (Primary drives) तीव्र वेग धारण कर लें, क्योंकि जो 'प्रेरक' अपने 'क्रिया-चक्र' को पूरा नहीं कर पाता वह वेग धारण कर लेता है। उसके बाद वार्डन ने उन्हें खुला छोड़कर यह देखना चाहा कि चूहों में कौन-सा 'प्रेरक' तीव्र है, और चूहियों में कौन-सा ? यह देखा गया कि चूहों में सबसे तीव्र वेग 'प्यास' को शान्त करने का था, उसके बाद 'भूख' शान्त करने का, और तीसरा नंबर 'यौन-भावना' का था। चूहियों में सबसे पहला नम्बर 'सन्तान से प्रेम' का था, फिर क्रम 'प्यास', 'भूख', 'यौन-भावना'--इस प्रकार चला। कहने का अभिप्राय यह है कि भूखी-प्यासी चुहिया पानी या भोजन की तरफ़ भागने के बजाय अपने बच्चे की तरफ़ भागी, चूहे बच्चे की तरफ़ जाने की बजाय पानी की तरफ़ भागे। चूहिया में सन्तान-प्रेम की भावना का सर्वोच्च स्थान था, इस दिशा में उसमें और चूहे में आधार-भूत भेद पाया गया। निम्न-स्तर के ये परीक्षण कहाँ तक मानव-समाज पर घट सकते हैं, यह प्रश्न किया जा सकता है, परन्तु मानव-जगत् में भी यह सत्य ही प्रतीत होता है कि माता का जो लगाव सन्तान से होता है वह जन्म-सिद्ध होता है, पिता का जन्मसिद्ध नहीं होता, सामाजिक-सम्बन्ध के कारण अधिक होता है। इसी कारण पुरुष बच्चे होने पर भी दूसरी शादी प्रायः करते देखे जाते हैं, स्त्रियाँ सन्तान हो जाने के बाद तृप्ति-सी अनुभव करती हैं। कहने वाले फिर भी इस भेद को सामाजिक-भेद कह सकते हैं। समाज की अवस्थाएँ ही ऐसी हैं जिनमें स्त्री को अधिक समय

घर में बिताना पड़ता है। घर में इकले वह रह नहीं सकती। उसके दिल बहलाव के लिए कोई सामग्री चाहिए। बच्चे से बढ़कर वह सामग्री क्या हो सकती है? इस परिस्थिति में रहते-रहते स्त्री में सन्तान के प्रति सन्तान का लगाव पैदा हो गया है।

लड़के-लड़कियों की बुद्धि में भेद

वर्तमान-गवेषणाओं से सिद्ध हुआ है कि 'बुद्धि तथा योग्यता' (Intelligence and ability) एवं 'व्यक्तित्व' (Personality) में बालक-बालिकाओं में कोई आधारभूत भेद नहीं होता। पुराने ज़माने में स्त्री तथा पुरुष में मौलिक भेद माना जाता था। अमरीका में सालों तक स्त्रियों को अध्यापन-कार्य इसलिए नहीं दिया जाता था क्योंकि यह समझा जाता था कि उनका मानसिक-विकास पुरुष से कम होता है। परन्तु अनुभव इस बात को पुष्ट नहीं करता। इसी अनुभव के आधार पर आज अध्यापन के कार्य के लिए स्त्रियों को पुरुषों से अच्छा माना जाता है। महारानी ताराबाई तथा महारानी दुर्गाबाई ने जिस सफलता से बड़े-बड़े राज्यों का संचालन किया उससे उनकी योग्यता पुरुषों से किसी प्रकार कम नहीं ठहरती। इंग्लैंड में क्वीन इलेज़ेबेथ तथा रूस में कैथराइन दी ग्रेट ने बड़ी सफलता-पूर्वक राज्य किया। भारत में सरोजिनी नायडू तथा विजयलक्ष्मी पंडित की योग्यता से कौन इन्कार कर सकता है। अपने देश की विधान-सभाओं में जो स्त्रियाँ गई हैं, उनमें से अनेकों ने पुरुषों से अधिक योग्यता प्रदर्शित की है।

देखने में ऐसा आया है कि स्त्रियाँ साहित्य, कविता उपन्यास तथा संगीत में अधिक रुचि प्रदर्शित करती हैं, विज्ञान

के विषयों में उनकी अधिक रुचि नहीं दिखाई देती, परन्तु फिर भी अनेक स्त्रियों ने विज्ञान के क्षेत्र में भी पर्याप्त नाम पाया है। साधारण बुद्धि को मापने के उपायों द्वारा बालक-बालिका की बुद्धि में कोई विशेष अंतर नहीं पाया गया। टरमैन (Terman) महोदय ने वुद्धि को मापने का एक तरीका निकाला था। वह तरीका क्या था? बिने (Binet) का कथन था कि बालक की जो 'शारीरिक-आयु' होती है, 'मानसिक-आयु' भी वही हो, यह ज़रूरी नहीं। कई बालक शारीरिक दृष्टि से १५ बरस के होते हैं, मानसिक दृष्टि से १० बरस के होते हैं, इसलिए १० बरस के होते हैं क्योंकि १० बरस के बच्चों की-सी बातें करते हैं। बिने की बात को लेकर टरमैन ने 'मानसिक-आयु' तथा 'शारीरिक-आयु' के अनुपात का नियम निकाला था, यह नियम ही बुद्धि को मापने का तरीका था। उसका कहना था कि अगर किसी की 'मानसिक-आयु' ८ वर्ष हो, 'शारीरिक-आयु' १२ वर्ष हो, तो शरीर तथा वुद्धि का पारस्परिक-अनुपात जानने के लिए 'मानसिक-आयु' को 'शारीरिक-आयु' से भाग देकर १०० से गुणा कर देना चाहिए। ऊपर के दृष्टान्त में जिस बालक की 'मानसिक-आयु' ८ वर्ष की और 'शारीरिक-आयु' १२ वर्ष की, उसके मन तथा शरीर का अनुपात $\frac{८}{१२} \times १०० = ६७$ होगा। इस ६७ का यह मतलब है कि अगर उसके शरीर को १०० अंक दिये जाँय, तो मन को ६७ अंक मिलेंगे, मन शरीर से ३३ अंक पीछे होगा। यह पिछड़े हुए बच्चों का हाल है। जिन बालकों का सम-विकास हुआ होता है उनके मन तथा शरीर को बराबर-बराबर अंक मिलते हैं, कम-अधिक नहीं।

यह जो 'मानसिक-आयु' को 'शारीरिक-आयु' से भाग देकर १०० से गुणा करने पर 'मन तथा शरीर का अनुपात' निकलता है इसे मनोविज्ञान की परिभाषा में 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence quotient) कहते हैं। अगर 'बुद्धि-लब्धि' १०० हो, तब तो बालक बुद्धि में साधारण समझा जाता है, अगर १०० से ऊपर हो, तब उसे 'बुद्धि-लब्धि' में जितने अधिक अंक मिलते जाँयगे उतनी उसकी उत्कृष्ट बुद्धि समझी जायगी, जितने 'बुद्धि-लब्धि' में १०० से कम अंक मिलते जाँयगे उतनी कम बुद्धि समझी जायगी। परीक्षणों से पता चला है कि बालक तथा बालिकाओं की 'बुद्धि-लब्धि' समान रूप से १०० पायी गई है, यह नहीं कि बालकों की बालिकाओं से अधिक हो, या बालिकाओं की बालकों से अधिक हो। इससे भी स्पष्ट है कि बुद्धि में बालक-बालिकाओं में कोई भेद नहीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि किसी प्रकार की भी 'बुद्धि-परीक्षा' में बालक-बालिकाओं में भेद नहीं पाया जाता। लड़कियाँ भाषाओं में लड़कों से अच्छी योग्यता दिखलाती हैं, लड़के यान्त्रिक कार्यों में लड़कियों से अच्छा कार्य करते हैं, परन्तु जब बुद्धि तथा योग्यता मापने के अनेक प्रकार के परीक्षणों का समयोग किया जाता है तब इन दोनों की बुद्धि तथा योग्यता में कोई भारी अन्तर नहीं दिखाई देता।

यह देखा गया है कि प्रारंभिक-पाठशाला में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का ध्यान पढ़ाई पर अधिक जमता है। ध्यान की एकाग्रता का यह भेद उनके क्रियात्मक कार्य के परीक्षणों में उलट जाता है। क्रियात्मक कार्यों में लड़कियों से लड़के

आगे बढ़ जाते हैं। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अक्षराभ्यास में आगे निकल जाती हैं, लड़कियों की अपेक्षा लड़के गणित में आगे निकल जाते हैं। प्रारंभिक-पाठशाला के बाद माध्यमिक कक्षाओं में भाषा-ज्ञान में लड़कियाँ लड़कों से आगे बढ़ी रहती हैं, लड़के ज्यामिति तथा साइन्स में लड़कियों से बढ़े रहते हैं। कॉलेज में भी लड़कियाँ भाषा में तथा लड़के विज्ञान में एक-दूसरे से आगे रहते हैं। व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में कई बातों में लड़के और कई में लड़कियाँ एक-दूसरे को मात देते हैं। दफ़्तरी काम में लड़कियाँ आगे और यान्त्रिक कार्यों में लड़के आगे रहते हैं। इन सब बातों में ठीक-से नहीं कहा जा सकता कि ये भेद सामाजिक-परिस्थितियों के कारण हैं, या बालक-बालिकाओं की आन्तरिक-प्रेरणाओं के कारण।

लड़के-लड़कियों के व्यक्तित्व तथा स्वभाव में भेद

ऊपर हमने जो-कुछ कहा वह बुद्धि (Intelligence) की दृष्टि से कहा। 'भावों'-'उद्वेगों' (Emotions) की दृष्टि से भी लड़के-लड़कियों में भेद कहा जाता है। लड़के जल्दी क्रुद्ध हो जाते हैं, लड़-झगड़ पड़ते हैं, आक्रमण कर बैठते हैं, लड़कियाँ शांत स्वभाव होती हैं, आक्रमण में पहल नहीं करतीं। कहा जाता है कि शरीर की 'भीतरी-ग्रन्थियों' (Endocrine glands) के 'आभ्यन्तर-स्राव' (Internal secretions) के कारण इन दोनों के स्वभाव में भेद उत्पन्न हो जाता है, और इसी कारण लड़के-लड़की का 'व्यक्तित्व' भिन्न-भिन्न दिशा में विकसित होता है। इस सम्बन्ध में समाज-शास्त्रियों का कथन है कि यह भेद भी सामाजिक-परिस्थितियों के द्वारा

हम उत्पन्न करते हैं। मारगरेट मीड (Margaret Mead) ने न्यू-गिनी की तीन जंगली जातियों का अध्ययन करने के अनन्तर यह परिणाम निकाला कि उन सब में स्त्री तथा पुरुष का 'व्यक्तित्व' भिन्न-भिन्न प्रकार विकसित हुआ है। एरेपेश जाति के स्त्री-पुरुषों में 'व्यक्तित्व' के एक ही प्रकार के गुण पाये जाते हैं, स्त्री तथा पुरुष दोनों दब्बू स्वभाव के, अक्रियाशील होते है। मंडुगुमोर जाति के लोगों में स्त्री-पुरुष दोनों क्रियाशील, लड़ाकू स्वभाव के होते हैं। चैम्बुली जाति के पुरुष तो सौन्दर्य-प्रिय, कला-प्रधान, स्त्री-स्वभाव होते हैं, स्त्रियाँ क्रियात्मक, रोब जमानेवाली तथा आक्रान्ता-स्वभाव की होती हैं। अगर लड़के-लड़कियों के 'व्यक्तित्व' में स्वभाव से आधारभूत भेद होता, तो इन जातियों के पुरुषों तथा स्त्रियों में जो असमानता पायी जाती है वह न मिलती, सब जातियों में लड़कियों का स्वभाव एक-सा होता, लड़कों का स्वभाव दूसरी तरह का होता।

३. भेद का कारण—'सामाजिक-परिस्थिति'

बालक-बालिका में 'प्राणि-विज्ञान' के आधार पर जो भेद हैं उन्हें स्वीकार करते हुए भी समाज-शास्त्रियों का कहना है कि इन दोनों की बुद्धि, योग्यता तथा स्वभाव में कोई मौलिक भेद नहीं है। बुद्धि, योग्यता तथा स्वभाव में जो भेद दिखाई देता है वह सामाजिक-परिस्थिति के कारण है, प्राकृतिक न होकर कृत्रिम है। जन्म के प्रारंभ से ही हमारे समाज में बालक तथा बालिकाओं के लिए अलग-अलग माप-दंड बने हुए हैं, दोनों के साथ अलग-अलग व्यवहार होता है। यह समझा जाता है कि बालक ने ही परिवार को आगे चलाना

है, बालिका तो दूसरे का धन है, उसने पराये घर चले जाना है। बालकों के शारीरिक तथा मानसिक विकास को तथा बालिकाओं के सौन्दर्य-विकास को आवश्यक समझा जाता है। बालक को बालिका से उच्च-कोटि का प्राणी माना जाता है। समाज में भी पुरुष की स्त्री की अपेक्षा ऊंची स्थिति है। यह समझा जाता है कि स्त्री एक नीची श्रेणी में रखने योग्य है। भारत में 'ढोर-गंवार-शूद्र अरु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी'-जैसे विचार प्रचलित रहे हैं। 'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्राः रक्षन्ति वार्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'—बचपन में पिता, यौवन में पति, वार्धक्य में पुत्र उसकी रक्षा करता है, स्त्री कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकती—यह हमारा नारा रहा है। यद्यपि यह अवस्था अब धीरे-धीरे बदल रही है, बालिकाओं को बालकों के समान शिक्षा दी जाने लगी है, तो भी अभी दृष्टि-कोण पूरा नहीं बदला। अगर कोई बालक कमज़ोर है, शर्माता है, तो यही कहा जाता है कि यह लड़का नहीं, लड़की है, यह कहते हुए उसका उपहास किया जाता है। लड़के की तारीफ़ करने के लिए यह कोई नहीं कहता कि यह मेरी लड़की है, लड़की की तारीफ़ करते हुए कहा जाता है कि यह मेरा लड़का है। साहस, उत्साह, क्रियाशीलता, तीव्र बुद्धि—ये सब पुरुषत्व के गुण समझे जाते हैं, सौन्दर्य, लज्जा, घबराहट आदि स्त्री के गुण समझे जाते हैं। जिस समाज का ऐसा वातावरण हो उसमें बालक-बालिका में भेद दिखाई दे, तो कोई आश्चर्य नहीं।

परीक्षणात्मक अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि जीवन का

प्रारंभ तो बालक-बालिकाएँ एक समान करते हैं, परन्तु एक-दो वर्ष का होते-होते हम उनके सामने भिन्न-भिन्न 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' (Cultural patterns) रखने लगते हैं। यह सब का अनुभव है कि गुड़िया से खेलना दोनों एक-साथ शुरु करते हैं, किन्तु बालक गुड़िया से खेलना जल्दी छोड़ देता है। अगर देर तक खेले तो माता-पिता ही कहने लगते हैं---तू लड़की है जो गुड़िया से खेलता है। बालक-बालिकाओं को शुरू से भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़े पहनाये जाते हैं। बालिका अपने चारों तरफ़ के वातावरण में यह स्पष्ट अनुभव कर जाती है कि उसकी समाज में 'स्थिति' (Status) बालक से भिन्न है, उस ने समाज में बालक से भिन्न पार्ट अदा करना है, उसका 'कार्य' (Role) बालक से अलग है। पहले वह इस प्रकार के भिन्न 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' के विरुद्ध प्रतिक्रिया करती है, परन्तु धीरे-धीरे इसे अवश्यंभावी समझ कर और यह देखकर कि घर में उसकी माता की स्थिति भी पिता से नीची है, वह अपनी इस 'स्थिति' (Status) तथा अपने इस 'कार्य' (Role) के साथ अपने को सहमत कर लेती है।

९

किशोरावस्था के विवाह—लाभ तथा हानियाँ

(EARLY MARRIAGE—ADVANTAGES AND DISADVANTAGES)

विवाह को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—'बाल-विवाह', 'किशोर-विवाह' तथा 'युवा-विवाह'। 'बाल-विवाह' का अभिप्राय 'किशोरावस्था' से पहले का विवाह है। 'किशोरा-वस्था' से हमारा क्या अभिप्राय है ? बालक में 'किशोरावस्था' तब शुरु होती है जब उसमें वीर्य बनना शुरू हो जाता है, जब उसके वीर्य से सन्तान उत्पन्न हो सकती है। बालिका में 'किशोरी-अवस्था' तब शुरू होती है जब उसे मासिक-धर्म होने लगता है। इस दृष्टि से 'बाल-विवाह' की अवस्था वह अवस्था है जिसमें 'प्राणि-शास्त्र' की दृष्टि से प्रजनन नहीं हो सकता, 'किशोरावस्था' वह अवस्था है जिसमें 'प्राणी-शास्त्र' की दृष्टि से प्रजनन हो सकता है। 'किशोरावस्था' एक तरह से 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' (Biological age) है, 'बाल्यावस्था' इस प्रकार की 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' नहीं है। इस 'किशोरावस्था' के बाद एक तीसरी अवस्था आती है जिसे 'युवावस्था' कहते हैं। किशोरी-किशोर के रज-वीर्य से सन्तान तो उत्पन्न हो सकती है, परन्तु क्या वह हृष्ट-पुष्ट होगी, तन्दुरुस्त होगी ? अभी किशोर-किशोरी का केवल शारीरिक विकास हुआ है, वह विकास भी

अभी प्रारंभ ही हुआ है, अभी उनकी परिपक्वावस्था नहीं आयी, मानसिक-विकास तो अभी बहुत होना बाकी है—ऐसी अवस्था में, किशोरावस्था में विवाह करना उचित है या नहीं—यह समस्या है। 'किशोरावस्था' तो 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' (Biological age) है; 'युवावस्था' में शरीर पक जाता है, विचार बन चुके होते हैं, अतः 'युवावस्था' इस दृष्टि से 'सांस्कृतिक-अवस्था' (Cultural age) है। 'किशोरावस्था' में विवाह हो या 'युवावस्था' में विवाह हो—इस प्रश्न का वैज्ञानिक रूप यह है कि 'प्राणि-शास्त्रीय-आयु' (Biological age) में विवाह हो, या 'सांस्कृतिक-आयु' (Cultural age) में विवाह हो? विवाह की आयु के विषय में समाज-शास्त्र का मुख्य प्रश्न यही है।

१. बाल-विवाह

इससे पहले कि हम अपने मुख्य विषय पर आयें, 'बाल-विवाह' (Child marriage) पर कुछ लिख देना अप्रासंगिक नहोगा। अपने देश में बाल-विवाह बहुत देर तक प्रचलित रहा है, और अब भी अनेक स्थानों पर प्रचलित है। दूध पीते बच्चे-बच्चियों के यहाँ विवाह होते रहे हैं। परन्तु यह समझना कि अपने देश के इतिहास में शुरु से ही यह प्रथा रही है, ग़लत है। मोटे तौर पर किसी देश का इतिहास तीन भागों में बाँटा जा सकता है—आदि-युग, मध्य-युग तथा वर्तमान-युग। भारत का आदि युग वैदिक-युग था, मध्य-युग मनु आदि स्मृतिकारों का युग था, और वर्तमान-युग हम सबका जो आज हैं उनका युग है। वैदिक-युग में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी, मध्य-युग में यह प्रथा चली, वर्तमान-युग में मौजूद है, परन्तु शिक्षा के विस्तार तथा नवीन

कानूनों के कारण इस प्रथा का अब लोप होता जा रहा है, इसके स्थान में 'किशोर-विवाह' तथा 'युवा-विवाह' का प्रचार बढ़ता जा रहा है।

वैदिक-युग में बाल-विवाह नहीं था, इसके अनेक प्रमाण हैं। वेद में लिखा है—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'—कन्या ब्रह्मचर्य धारण करने के बाद 'युवा' पति को प्राप्त होती है। यहाँ 'युवा'-शब्द का प्रयोग सिद्ध करता है कि वैदिक-युग में 'बाल-विवाह' तथा 'किशोर-विवाह' न होकर 'युवा-विवाह' होता था। वेद में एक दूसरे स्थल में आता है—'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः'—अर्थात्, कन्या का सबसे पहले 'सोम' से सम्पर्क होता है, फिर 'गन्धर्व' से, फिर 'अग्नि' से, उसके बाद 'पुरुष' से। 'सोम' का अर्थ है 'शारीरिक-विकास'। पहले-पहल कन्या का शारीरिक-विकास होता है। उसके बाद उसका सम्बन्ध 'गन्धर्व' से होता है। 'गन्धर्व' का अर्थ है—सौन्दर्य का स्वामी। इसका अभिप्राय यह है कि शारीरिक-विकास के बाद कन्या का सौन्दर्य निखरने लगता है, उसमें ललित-कलाओं का विकास होने लगता है। इसके बाद कन्या के विकास में तीसरी अवस्था आती है जिसे यहाँ 'अग्नि' कहा है। 'अग्नि' को अंग्रेज़ी में (Heat) कहते हैं। जैसे जीव-जन्तुओं में मासिक-धर्म को गर्म होने का समय कहा जाता है—इसी तृतीय-अवस्था को यहाँ अग्नि-काल कहा है। इसके बाद कन्या 'पुरुष' को दी जाती है, उसका विवाह होता है। इस मन्त्र से भी स्पष्ट है कि वैदिक-काल में कन्या का विवाह बाल्य-काल में न होकर मासिक-धर्म

हो चुकने के बाद होता था जिसे मंत्र में 'अग्नि'-काल कहा है।

वैदिक-काल के बाद मध्य-युग आया। यह स्मृतिकारों का युग था। इस मध्य-युग में भारत की राजनैतिक अवस्था अस्थिर हो गई थी। विदेशी लोग जहाँ-तहाँ से आक्रमण करने लगे थे। परिवार की रचना 'संयुक्त-परिवार' का रूप धारण किये हुए थी। जिस बालिका ने दूसरे घर जाना है, वहाँ जाकर सास-ससुर आदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के बीच रह कर हरेक से किस तरह बरतना होगा यह-सब सीखना है, उसे जितनी जल्दी-से-जल्दी घर से विदा कर दिया जाय यह भावना घर करने लगी और बाल-विवाह का श्री-गणेश हुआ। इन दिनों सती-प्रथा भी प्रचलित थी। पति के मर जाने पर स्त्री चिता पर चढ़ कर अपना अन्त कर देती थी। ऐसी सामाजिक-परिस्थिति में, जब लड़की का कोई अभिभावक न बच रहे, लड़की की जल्दी शादी कर देना मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे माता-पिता के बोझ को हल्का करने का साधन था। कई लोग कहते हैं कि मुसलमानों के यहाँ आने से बाल-विवाह चला। उनका कहना यह है कि ये आक्रान्ता लोग बाहर से सैनिकों के रूप में यहाँ आये थे, इनके बाल-बच्चे नहीं थे, ये इकले थे, इनको स्त्रियों की ज़रूरत थी। इनके धर्म-ग्रन्थों में लिखा था कि दूसरे की ब्याहिता स्त्री तुम्हारे लिये हराम है, परन्तु अविवाहिता को तुम ले सकते हो। इन लोगों से अपनी कन्याओं की रक्षा करने के लिये मध्य-युग में हिन्दुओं ने छोटे-छोटे बालकों-बालिकाओं का विवाह करना शुरु कर दिया। जो-कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि बाल-विवाह की प्रथा वैदिक-काल में न होकर मध्य-काल में प्रारंभ हुई। इस समय भी विवाह

के दो भेद रखे गये। एक तो संस्कार, दूसरा द्विरागमन, गौना, डोली आदि। इसका अभिप्राय यह था कि राजनैतिक-अवस्थाओं (Political) को देखकर तो बाल-विवाह को प्रचलित किया गया, परन्तु 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) तथा 'सांस्कृतिक' (Cultural) दृष्टिकोण को भी भुलाया नहीं गया। इसीलिये तो असली विवाह द्विरागमन, गौना, डोली आदि के बाद समझा गया। इस समय मन्त्र तो वही पढ़े जाते थे जिनमें युवावस्था के विवाह का विधान था, परन्तु मन्त्रों के अर्थ की तरफ़ कोई ध्यान नहीं देता था, युवावस्था के मन्त्रों से ही बाल्यावस्था का विवाह कराया जाता था। वैदिक-युग में जो मन्त्र कन्या के देर के विवाह के लिये समझे गये थे उन्हीं को तोड़-मरोड़कर कन्या का छोटी आयु में विवाह किया जाने लगा। इसमें स्मृति-कारों ने रास्ता साफ़ कर दिया। पुराणों ने भी इसी प्रकार की रागिनी अलापी। कहाँ तो वेद-मन्त्रों में सोम-गन्धर्व-अग्नि-मनुष्य का अभिप्राय, जैसा हम अभी दर्शा आये हैं, कन्या के शारीरिक-विकास से था, कहाँ यह कहा जाने लगा—

'रोमकाले तु संप्राप्ते सोमो भुंक्ते तु कन्यकाम्।
रजःकाले तु गन्धर्वो वह्निस्तु कुचदर्शने॥
तस्मादुद्वाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्'—

रोम निकलते ही सोम कन्या का भोग करता है, रजोदर्शन होते ही गन्धर्व, स्तन प्रकट होने पर अग्नि—इसलिये ऋतुमती होने से पहले ही उसका विवाह कर दे। वेदमन्त्रों के सोम, गन्धर्व तथा अग्नि का यह विकृत अर्थ किया गया, परन्तु इस प्रकार का विकृत अर्थ करने का उद्देश्य उस समय की सामाजिक-परिस्थिति

के अनुसार लोक-मत तय्यार करना प्रतीत होता है।

मध्य-युग के बाद वर्तमान युग आया। इस युग में बाल-विवाह की प्रथा अपने शिखर पर जा पहुँची। माताएँ दुधमुंही बच्चियों के फेरे उन्हें अपनी गोद में उठाये देने लगीं। इस प्रथा के विरुद्ध आर्य-समाज तथा ब्राह्मो-समाज ने आवाज़ उठाई। अंग्रेज़ लोग यही कहते रहे कि वे किसी के धर्म में हस्तक्षेप करके किसी धर्म के लोगों को नाराज़ नहीं करना चाहते। १८९० में बंगाल में फूलमणि नाम की एक लड़की का जो ११ वर्ष की थी पति के सहवास द्वारा प्राणांत हो गया। उस पर जब अभियोग लगाया गया, तो उसने भारतीय-दण्ड-विधान की वह धारा पेश की जिसके अनुसार सहवास के लिये १० वर्ष की आयु मानी गई थी। इस प्रकार की घटनाओं से सरकार ने बालिका के विवाह की आयु १० से १२ वर्ष करने का प्रस्ताव किया परन्तु इसका यहाँ की जनता की तरफ़ से घोर विरोध हुआ। इस विरोध के बावजूद आयु १० से १२ वर्ष कर दी गई। १८९१ में १० से १२ वर्ष आयु बढ़ाते हुए इस बिल के प्रस्तावक श्री एन्ड्रू स्कोबल ने कहा कि राष्ट्र का अधिकार है कि जहाँ प्रजा के किसी वर्ग की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो वहाँ हस्तक्षेप करे। पहले तो यह समझा गया कि इस प्रस्ताव के पास हो जाने के बाद बाल-विवाह की प्रथा में बहुत कुछ सुधार हो जायगा, परन्तु कुछ न हुआ, यह प्रस्ताव कागज़ पर ही लिखा रह गया, बाल-विवाह उसी तेज़ी से होते रहे। १९२५ में यह आयु बढ़ाकर १२ से १३ वर्ष कर दी गई, तब भी कुछ इने-गिने वकीलों को छोड़कर इसका किसी को पता न चला, ख़ास कर गाँवों में उसी रफ़्तार से बाल-विवाह होते

रहे। ब्रिटिश-भारत में तो यह अवस्था रही, परन्तु देशी राज्यों में से बड़ौदा-राज्य ने इस दिशा में विशेष प्रगति दिखलाई। वहाँ १९०१ में एक कानून द्वारा बाल-विवाह का निषेध कर के लड़कों की आयु १६ और लड़कियों की १२ वर्ष कर दी गई। बहुत सालों बाद १९२९ में श्री हरबिलास शारदा के उद्योग से ब्रिटिश-भारत की केन्द्रीय-विधान-सभा में 'बाल-विवाह-निषेधक'-विधेयक पेश हुआ जिसके अनुसार विवाह के लिये लड़के की कम-से-कम आयु १८ वर्ष तथा लड़की की १४ वर्ष निश्चित की गई। १ अप्रैल १९३० से यह कानून सारे भारत में लागू हो गया। जिस समय यह विधेयक स्वीकृत हुआ उस समय देश में सत्याग्रह-आन्दोलन का भी प्रारंभ हुआ। सरकार सत्याग्रह-आन्दोलन को दबाने में इतनी लग गई कि उसका शारदा-क़ानून की तरफ़ ध्यान ही नहीं जा सका, और इसीलिए इस क़ानून के बावजूद छोटे लड़के-लड़कियों की शादी जारी रही।

'बाल-विवाह' न तो 'प्राणि-शास्त्रीय आवश्यकता' (Biological need) को पूरा करता है, न 'सांस्कृतिक-आवश्यकता' (Cultural need) को, अतः यह तो किसी भी दृष्टि से भी उपयुक्त नहीं है। विकल्प केवल 'किशोरावस्था' तथा 'युवावस्था' के विवाह में रह जाता है जिनमें से पहली 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' है, दूसरी 'सांस्कृतिक-अवस्था' है। इन दोनों अवस्थाओं में से किसमें विवाह करना उचित है, और जिस अवस्था में भी करना उचित है, उसके क्या लाभ हैं, क्या हानियां हैं? इसी प्रश्न को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि विवाह जल्दी करना चाहिए या देर में, 'किशोरावस्था' में

या 'युवावस्था' में, 'प्राणि-शास्त्रीय' अवस्था में या 'सांस्कृतिक' में ?

२. किशोरावस्था का विवाह

'किशोरावस्था' वह अवस्था है जिसमें लड़का-लड़की परिपक्व आयु के कहे जा सकते हैं। शारदा-एक्ट में स्वीकार की गई लड़के की १८ तथा लड़की की १६ आयु को किशोरावस्था कहा जा सकता है। इस आयु में विवाह करने का एक लाभ तो यह है कि इस आयु में लड़की की आदतें, उसका स्वभाव आदि बन रहा होता है, पूरा बन चुका नहीं होता। वह अपनी ससुराल जाकर वहाँ के रीति-रिवाज़ तथा चलन के साथ आसानी से अपने को ढाल सकती है। इसके अतिरिक्त इस आयु में विवाह करने का दूसरा लाभ यह कहा जाता है कि क्योंकि इससे सन्तानोत्पत्ति जल्दी शुरु हो जाती है अतः देर से विवाह करने की अपेक्षा इस आयु में विवाह करने से सन्तानें अधिक होती हैं। अधिक सन्तान होने का अर्थ है देश में युवा-पुरुषों की संख्या का अधिक होना। जिस घर में बालक-बालिका ज़्यादा होंगे वहाँ बच्चों को बच्चों के साथ खेलने का अवसर अधिक मिलेगा। बच्चे-बच्चों के साथ रहकर ही ख़ुश रहते हैं। युवावस्था में शादी होने से सन्तानोत्पत्ति का समय कम रह जाता है, सन्तानों की संख्या इससे स्वभावतः कम हो जाती है, देश में बालक कम होने से युवा पुरुषों-स्त्रियों की संख्या भी कम रहती है। बालक-बालिकाओं को बच्चों के साथ समय बिताने के स्थान में बड़ी उम्र के लोगों के साथ समय बिताना पड़ता है। अगर माता-पिता बहुत सुशिक्षित हों, तब तो ठीक, नहीं तो बच्चों का बड़ों के साथ रहना उचित विकास के लिए अनुकूल नहीं बैठता। बड़ी आयु के विवाह में

माता-पिता की ज़िम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है, उन्हें अपने को इस योग्य बनाना पड़ता है कि वे सन्तान के खेल-कूद में साथ दे सकें, उनके साथी हो सकें। किशोरावस्था की शादी में क्योंकि देश में बच्चों की संख्या के बढ़ने की संभावना है इसलिए देश में युवक स्वतः बढ़ जाते हैं, देश का वातावरण युवकों का वातावरण बन जाता है।

परन्तु इससे एक हानि भी है। किशोरावस्था में 'प्राणी-शास्त्र' की दृष्टि से सन्तानोत्पत्ति तो हो सकती है, परन्तु इस आयु में अभी किशोर-किशोरी का समुचित शारीरिक-विकास नहीं हुआ होता। डा० कोवन अपनी 'सायन्स ऑफ़ न्यू लाइफ़' में लिखते हैं—"विवाह-योग्य आयु निश्चित करने में सबसे बड़ी ग़लती यह की जाती है कि किशोरावस्था को विवाह-योग्य अवस्था समझ लिया जाता है। यह ग़लत धारणा है। विवाह शारीरिक-दृष्टि से पूर्ण परिपक्व पुरुष-स्त्री का होना चाहिए। पूर्ण परिपक्वता का अभिप्राय यह है कि मानव-शरीर के प्रत्येक अंग का पूरा विकास हो चुका हो। जब किशोरावस्था आती है, तब शरीर की अस्थियों की परिपक्वता पूर्ण नहीं हो चुकी होती। अस्थियाँ ही तो शरीर के सब संस्थानों का आधार हैं—मांस-पेशियाँ, तन्तु-संस्थान, रुधिर-संस्थान, पाचन-संस्थान —सभी तो अस्थियों के आधार पर खड़े हैं। जब अस्थियों का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ, तो प्रजननाङ्गों का भी पूर्ण परिपाक नहीं हुआ। किशोरावस्था में प्रजनन के अङ्गों में जो परिपक्वता दृष्टि-गोचर होती है वह परिपाक का प्रारंभ है, और इसके प्रारंभ होते ही प्रजनन प्रारंभ कर देना उचित नहीं। शारीरिक-परिपाक

पूर्ण न होने के कारण किशोरावस्था का भी विवाह ठीक नहीं है ।"

३. युवावस्था का विवाह

किशोरावस्था के बाद युवावस्था आती है। पुरुष २५ वर्ष तथा स्त्री १८–२० वर्ष के बाद युवावस्था में प्रवेश करते हैं। इस अवस्था में विवाह करने का सब से बड़ा लाभ तो यह है कि ऐसे विवाह खूब देख-भाल कर होते हैं, पुरुष तथा स्त्री की रज़ामन्दी से होते हैं, इसलिए इनमें ज़िम्मेदारी पति-पत्नी पर आ पड़ती है, अगर उनकी आगे जाकर नहीं बनती, तो वे किसी दूसरे को दोषी नहीं ठहरा सकते, इसी कारण वे छोटे-मोटे मामलों को निपटाने की ही कोशिश किया करते हैं। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में पुरुष-स्त्री दोनों का शारीरिक परिपाक हो चुका होता है और परिपक्व शरीर से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह तन्दुरुस्त तथा हृष्ट-पुष्ट होती है। कच्चे शरीर से कच्ची सन्तान और पके शरीर से पकी सन्तान होना लाज़मी है।

इसका नुकसान यह कहा जाता है कि क्योंकि ऐसे दम्पति की सन्तान देर में होती है इसलिए उनको देर तक दुनिया के झंझटों में फँसा रहना पड़ता है। २६–२७ वर्ष में जिसके सन्तान होगी वह पहली सन्तान को ५० साल की आयु से पहले काम-धन्धे में लगा हुआ नहीं देख सकता। दो-चार और सन्तानें हो गईं, तब तो छोटे बच्चों को छोड़ कर ही उसे दुनिया से कूच करना पड़ता है। प्रायः बड़ी उम्र की शादी के बाद सन्तानें भी कम हो होती हैं, जिसका नतीजा यह होता है कि इनके बच्चों को, खेल-कूद के लिए, बच्चों के साथ जीवन बिताने का मौका नहीं मिलता।

इनकी सन्तान माता-पिता के साथ ही दिन बिताती है। छोटे बच्चे और बड़ी उम्र के साथी—इसका इन बच्चों के विकास पर बहुत अच्छा असर नहीं पड़ता। माता-पिता का स्तर बहुत ऊँचा हो, वे मनोविज्ञान के रहस्यों को समझते हों, तभी इनकी सन्तान को जीवन की ठीक दिशा मिल सकती है। इसके अतिरिक्त बड़ी उम्र के माता-पिता की सन्तान क्योंकि कम होती हैं अतः समाज में नव-युवकों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो जाती है जिसके परिणाम-स्वरूप समाज में वृद्ध-पुरुषों के गंभीर विचारों का आधिक्य हो जाता है। ऐसे समाज में नवयुवकों के आमोद-प्रमोद की अपेक्षा चारों तरफ़ वृद्ध पुरुषों की संजीदगी-ही-संजीदगी दिखाई देती है।

१०

विवाह—प्राणिशास्त्रीय तथा कानूनी दृष्टिकोण

(MARRIAGE—BIOLOGICAL AND LEGAL ASPECT)

१. विवाह का प्राणि-शास्त्रीय दृष्टि-कोण

स्त्री तथा पुरुष दोनों में 'यौन-भावना' (Sex drive) है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। 'यौन-संबंध' (Sex relation) के दो परिणाम हो सकते हैं। एक परिणाम तो यह है कि 'यौन-संबंध' तो हो, परन्तु इस संबंध के होने पर भी सन्तान न हो। दूसरा परिणाम यह है कि 'यौन-संबंध' हो, और सन्तान भी हो जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि 'यौन-संबंध' (Sex relation) एक चीज़ है, 'सन्तानोत्पत्ति' (Procreation) दूसरी चीज़ है। 'यौन-सम्बन्ध' का परिणाम 'सन्तानोत्पत्ति' हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि 'सन्तानोत्पत्ति' बिना 'यौन-सम्बन्ध' के नहीं हो सकती। जब से सूची-यन्त्र द्वारा स्त्री की योनि में उत्पादक-तत्व का प्रवेश करा कर प्रजनन के परीक्षण चले हैं तब से 'सन्तानोत्पत्ति' के साथ 'यौन-भावना' का जो सम्बन्ध जुड़ा हुआ था वह बिल्कुल टूट गया है। अब यह दिनोंदिन अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि 'यौन-भावना' (Sex drive) तथा 'सन्तानोत्पत्ति' (Procreation)—दोनों अलग-अलग 'प्रेरक' (Drives) हैं, दोनों को एक-दूसरे से अलग किया जा सकता है। हां, यह ठीक है कि

अभी हमारे समाज में वह अवस्था नहीं आयी जब पुरुष तथा स्त्री बिना 'यौन-सम्बन्ध' के 'सन्तानोत्पत्ति' करने लगें। 'यौन-सम्बन्ध' को इस प्रकार करने का तो प्रयत्न किया जाता है जिससे 'यौन-संबंध' भी हो जाय, और 'सन्तानोत्पत्ति' भी न हो, तभी तो सन्तति-निग्रह के उपायों का प्रचार हो रहा है, परन्तु ऐसा नहीं हो रहा कि 'सन्तानोत्पत्ति' हो जाय, और 'यौन-सम्बन्ध' न हो। जब स्त्रियाँ सूची-यन्त्र द्वारा सन्तान उत्पन्न कराने लगेंगी तब 'यौन-संबंध' होने पर भी 'सन्तानोत्पत्ति' नहीं होगी।

अगर 'यौन-सम्बन्ध' हो जाय, और 'सन्तानोत्पत्ति' न हो, तब तो समाज के लिए कोई विकट समस्या उपस्थित नहीं होती, परन्तु इसकी क्या गारंटी है कि 'यौन-सम्बन्ध' हो जायगा, और 'सन्तानोत्पत्ति' नहीं होगी? इसके अतिरिक्त 'यौन-सम्बन्ध' होने पर अगर 'सन्तानोत्पत्ति' हो जाय, तो माता की क्या स्थिति है, सन्तान की क्या स्थिति है? ये प्रश्न जैसे आदि-समाज के मानव के लिए सिरदर्दी का विषय थे, वैसे आज के मानव के लिए भी वैसी ही सिरदर्दी का विषय हैं। इस 'प्राणि-शास्त्रीय-समस्या' (Biological problem) का हल करने के लिए मानव-समाज के आदि-पुरखों ने विवाह की संस्था का निर्माण किया था।

समस्या क्या थी? समस्या यह थी कि पुरुष तथा स्त्री में प्रकृति ने एक ज़बर्दस्त 'प्रेरक' उत्पन्न कर दिया है। पुरुष-स्त्री दोनों में 'यौन-भावना' (Sex drive) प्रकृति की देन है। पुरुष-स्त्री क्या, सारी सृष्टि में नव-जीवन का संचार करनेवाली यह शक्ति अपने समय में फूट निकलती है। वसन्त में वृक्षों-वनस्पतियों तक में पत्ते-फूल मानो किसी आन्तरिक वेग से

धक्का खा-खाकर बाहर को प्रकट होने लगते हैं, पशु-पक्षी अपनी चुहुक से अन्तरिक्ष को भर देते हैं। यह सारा प्रवाह, यह सृष्टि का वेग 'यौन-भावना' का ही प्रवाह है। इस 'यौन-भावना' का एक लक्ष्य होता है। हम पहले दर्शा आये हैं कि प्रत्येक 'प्रेरक' एक 'क्रिया-चक्र' को उत्पन्न कर देता है, प्रत्येक 'प्रेरक' का एक 'लक्ष्य' होता है, और जब तक 'प्रेरक' अपने 'लक्ष्य' तक नहीं पहुँच जाता, तब तक 'क्रिया-चक्र' चलता रहता है, 'क्रिया-चक्र' पूर्ण न हो, तो प्राणी में 'तनाव' उत्पन्न हो जाता है, प्राणी का सारा वेग इस 'तनाव' को दूर करने में लग जाता है। प्रकृति में उमड़ रही इस 'यौन-भावना' (Sex-impulse) का 'लक्ष्य' क्या है, ऐसा 'लक्ष्य' जो पूरा न होगा, तो इस भावना का वेग और उमड़ता जायगा? 'यौन-भावना' (Sex impulse) का लक्ष्य 'सन्तानोत्पत्ति' (Pro-creation) है। 'सन्तानोत्पत्ति' में क्या प्रक्रिया होती है? इसमें माता तो बँध जाती है। उसके पेट में बच्चा है। ९—१० महीने तक उसे यह ज़िम्मेदारी निभानी है। बच्चा होने के बाद उसे दूध पिलाना, उसकी परवरिश करना है। मनुष्य का बच्चा तो इतना असमर्थ होता है कि उसे सालों रक्षा की आवश्यकता होती है। क्या माता बच्चा पैदा होने के बाद उसे छोड़कर अपना रास्ता नापे, अपनी रोटी-पानी की चिन्ता करे, या बच्चे की देख-रेख करे? अगर बच्चे की देख-रेख करे, तो इन दोनों को खाने को कौन लाकर दे? आदि के मानव-समाज के लिए यह समस्या थी। 'यौन-प्रवृत्ति' के वेग से 'सन्तानोत्पत्ति' तो हो गई, परन्तु 'सन्तानोत्पत्ति' के बाद आगे का काम कैसे चले?

२. विवाह का क़ानूनी दृष्टि-कोण

इस 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological)-समस्या का हल करने के लिए विवाह की 'कानूनी' (Legal) संस्था का जन्म हुआ। अगर पुरुष ने स्त्री के साथ यौन-संबंध करना है, तो समाज में वह संबंध तभी बर्दाश्त किया जा सकता है, अगर वह हर तरह से स्त्री की, और बच्चे की परवरिश करने के लिए, उनकी रक्षा करने के लिए कानूनी तौर पर अपने ऊपर ज़िम्मेदारी ले। इसी क़ानूनी ज़िम्मेदारी का नाम 'विवाह' है। इसका यह अर्थ भी हुआ कि विवाह के बिना यौन-सम्बन्ध, जहाँ सन्तानोत्पत्ति की संभावना हो, नाजायज़ समझा गया। अविवाहिता कन्या के साथ संबंध होने से सन्तानोत्पत्ति की संभावना है। अगर सन्तान हो जाय, तो उसके भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी किस पर होगी? पुरुष तो इसे लेने को तय्यार नहीं होता। इसलिए अविवाहिता कन्या के साथ सम्बन्ध नाजायज़ समझा गया। विवाह के सम्बन्ध में जो भी कानून बने उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि बच्चे की हर हालत में रक्षा होनी चाहिये, नस्ल को उसी ने तो आगे चलाना है, इसलिए पति-पत्नी का ऐसा सम्बन्ध होना चाहिये जिससे बच्चे की स्थिति समाज में सुरक्षित रहे। विवाह-बन्धन के बाहर जो बच्चा हो वह नाजायज़ करार दिया गया जिस का परिणाम यह हुआ कि 'यौन-सम्बन्ध' के लिए 'विवाह' करना आवश्यक हो गया।

इस दृष्टि से विवाह क्या है? विवाह स्त्री-पुरुष का एक ऐसा 'ठेका' (Contract) है जिसमें स्त्री अपने ऊपर बालक की परवरिश की, और पुरुष अपने ऊपर इन दोनों की भूख-

प्यास-संरक्षा आदि की ज़िम्मेदारी लेता है। ये सब मनुष्य की 'आधारभूत-एषणाएँ' (Basic needs) हैं। एक-दूसरे की इन 'एषणाओं' को पूर्ण करने के लिए स्त्री-पुरुष मानो एक प्रकार का सौदा करते हैं। ठेके के साथ ठेके के टूटने का भाव भी जुड़ा रहता है। अगर वे एक-दूसरे की 'आधारभूत-एषणाओं' को पूर्ण नहीं कर सकते, तो वे जुदा हो सकते हैं। तभी जिस कानून में विवाह को ठेके-जैसा समझा जाता है उसमें विवाह-विच्छेद का, तलाक का भी स्थान रहता है। कई लोग बालक की सुरक्षा में ज़रा-सा भी ख़तरा नहीं लेना चाहते। विवाह अगर ठेका है, तो ठेका टूट भी सकता है, और बालक का भविष्य ख़तरे में पड़ सकता है। अगर माता पर ही बालक की परवरिश का सारा बोझ आ पड़े, तो वह उस ज़िम्मेदारी को पूरी तरह निभा नहीं सकती। इसलिए जो बालक की दृष्टि से इस प्रकार का ख़तरा नहीं उठाना चाहते, वे विवाह को 'ठेका' न मान कर एक 'संस्कार'—एक 'स्थिर-धार्मिक-संबंध' (Sacrament) मानते हैं, ऐसा संबंध जो इस जन्म में तो टूट नहीं सकता। वे लोग इस संबंध में तलाक को कोई स्थान नहीं देते। एक बार विवाह हो गया, सो हो गया, वह अटूट धार्मिक संबंध है।

३. भिन्न-भिन्न समाजों में विवाह

हिन्दू-समाज में विवाह

मनु, नारद तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति में विवाह के आठ प्रकार कहे हैं :—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ मनु ३, ९

योग्य, सुशील, विद्वान् पुरुष को घर पर निमन्त्रित कर के कन्या को केवल एक वस्त्र से आच्छादित करके उस पुरुष को दान दे देना 'ब्राह्म'-विवाह है। विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों को वरण करके अनेक सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों से कन्या को अलंकृत करके उसका दान 'दैव'-विवाह कहाता है। वर से एक-एक गाय और बैल या इनका जोड़ा लेकर कन्या का दान 'आर्ष'-विवाह कहाता है। वर तथा कन्या को यज्ञशाला में बैठाकर और सत्कारपूर्वक यह उपदेश देकर कि तुम दोनों साथ-साथ धर्म-यापन करो, कन्या-दान 'प्राजापत्य'-विवाह कहाता है। ये चार विवाह उत्तम माने गये हैं। जब वर अपने पितृ-पक्ष के बन्धु-बान्धवों तथा कन्या को धन देकर उसका वरण करता है तब 'आसुर'-विवाह कहाता है। जब वर-कन्या बिना विवाह के एक-दूसरे की इच्छा-पूर्वक काम-भाव से संयोग करते हैं तब 'गान्धर्व'-विवाह कहाता है। मार-काट कर, छीन-झपट कर, रोती-बिलपती कन्या का हरण कर लाना 'राक्षस'-विवाह कहाता है। सोती, पागल, नशे में उन्मत्त कन्या को एकान्त में पाकर उसे दूषित कर देना सब विवाहों से नीच 'पैशाच'-विवाह कहाता है। ये चारों निकृष्ट-कोटि के विवाह गिने गये हैं। इन आठों का विवरण सिद्ध करता है कि हिन्दू-समाज में विवाह के सम्बन्ध में जितने भी भिन्न-भिन्न विचार हो सकते हैं उन सब को स्मृतिकार ने खपाने का प्रयत्न किया है। इनमें से कौन कब प्रचलित था, कब नहीं था, कौन सबसे पुराना तरीका है--यह गवेषणा का विषय है।

इस समय हिन्दू-समाज में जो विवाह-प्रथा प्रचलित है उसमें दो बातों का होना लाज़मी है--एक तो अग्नि को साक्षी रखकर

प्रतिज्ञा करना, दूसरा सप्तपदी की विधि। सप्तपदी-विधि के सातवें पैर के रखते ही विवाह विधि-वत् पूर्ण कहा जाता है, फिर यह नहीं टूट सकता। विवाह के लिए द्विरागमन आवश्यक नहीं है। द्विरागमन हो, न हो, अगर सप्तपदी हो चुकी है, तो हिन्दू-विवाह जायज़ माना जाता है। हाँ, अगर हिन्दुओं में कोई ऐसी जाति-उपजाति है जिसमें विवाह की ऊपर कही गई प्रथा से भिन्न कोई प्रथा हो, तो उसका अपनी प्रथा के अनुसार विवाह जायज़ माना जायगा। अस्ली बात प्रथा है। ऊपर की विधियों के होने पर विवाह का जायज़ माना जाना भी इसी कारण है क्योंकि अधिकांश हिन्दुओं में अग्नि को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा करना तथा सप्तविधि की प्रथा प्रचलित है।

प्रचलित प्रथा के अनुसार हिन्दू-स्त्री के लिए एक-पति-व्रत ज़रूरी है; पुरुष इच्छानुसार एक या अनेक जितनी स्त्रियों से चाहे विवाह कर सकता है। अब १९५४–५५ में 'हिन्दू विवाह तथा तलाक'-विधेयक के अनुसार पुरुष का बहु-विवाह वर्जित करने का कानून बन गया है। कई स्थानों पर स्त्री अनेक पतियों से विवाह कर सकती है। उदाहरणार्थ, देहरादून के पहाड़ी इलाके जौनसार में यह प्रथा प्रचलित है। अन्य भी अनेक पहाड़ी स्थानों में यह प्रथा पायी जाती है। मद्रास के नायर लोगों तथा नीलगिरी के टोडा लोगों में भी एक स्त्री का अनेक पुरुषों से सम्बन्ध पाया जाता है। इन सब प्रथाओं को भी प्रथा होने के कारण अपना-अपना स्थान प्राप्त है।

हम पिछले अध्याय में देख आये हैं कि मध्य-युग में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गई थी। इसके अनेक कारणों में

सती-प्रथा भी एक कारण था। परन्तु सती-प्रथा बाल-विवाह का परिणाम होने के साथ-साथ कुछ अंश में स्वयं भी बाल-विवाह का परिणाम था। बाल-विवाह से बाल-विधवाओं का होना तो आवश्यक था। विधवा क्या करती? विधवा के पुनर्विवाह की प्रथा तो मध्य-युग में थी नहीं, अतः विधवा, या तो सती हो सकती थी, या आजन्म वैधव्य बिता सकती थी। इस समय सती-प्रथा पर स्मृतिकारों ने ज़ोर देना शुरू किया। यह कहा गया कि जो विधवा पति के साथ जल जायगी वह स्वर्ग पहुँचेगी। कभी-कभी स्त्रियों की वेदना कम करने के लिए उन्हें अफ़ीम खिला कर, बेहोश करके सती किया जाता था। जलती चिता से जो स्त्रियाँ झुलस कर भागती थीं, उन्हें कभी-कभी बाँसों से आग में धकेला जाता था, कभी-कभी चिता में रस्सी के साथ बाँध दिया जाता था। इस संबंध में राजा राममोहन राय ने बड़ा आन्दोलन किया। १८११ में राजा राममोहन राय ने अपनी भाभी को सती होते देख कर तीव्र आन्दोलन उठाया। उस समय लार्ड बैंटिक गवर्नर-जनरल थे। उन्होंने भी इस आन्दोलन का समर्थन किया और १८२९ में सती-प्रथा को कानूनन बन्द कर दिया गया।

बाल-विवाह से विधवाओं की समस्या उत्पन्न हुई थी, विधवाओं की समस्या को हल करने के लिए सती-प्रथा में तेज़ी आ गई थी, सती-प्रथा को कानून द्वारा रोक देने से विधवाओं की समस्या फिर उग्र हो उठी। १८५५ में बंगाल के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें विधवा-विवाह को शास्त्र-सम्मत सिद्ध किया। १८५६ में 'विधवा-विवाह-कानून'

स्वीकृत हुआ, परन्तु इस कानून के बावजूद विधवा-विवाह करना बुरा ही समझा जाता रहा। इस कानून के स्वीकृत होने के २८-३० वर्ष बाद बहरामजी मलाबारी ने फिर सरकार का विधवाओं की दुर्दशा पर ध्यान खींचा। धीरे-धीरे जनता का ध्यान इधर जाने लगा। १८८७ में शशिपद बैनर्जी ने कलकत्ते के पास बरहानगर में, १८८९ में रमाबाई ने बम्बई में विधवाश्रम खोले, १८९६ में श्री कर्वे ने पूना में विधवाश्रम स्थापित किया। १९०६ से आर्यसमाज ने इस दिशा में वेग से काम शुरु किया। १९१४ में सर गंगाराम ने लाखों की सम्पत्ति इस कार्य के लिए दान दी और भारत के हर प्रान्त में 'विधवाश्रम' स्थापित किये। अब देश-वासियों का ध्यान विधवाओं की समस्या की तरफ़ काफ़ी जा चुका है और जा रहा है।

हिन्दुओं में विवाह जाति के भीतर ही हो सकता है, बाहर नहीं। इसे 'अन्तर्विवाही-प्रथा' (Endogamy) कहा जाता है। ब्राह्मण ब्राह्मणों में ही शादी कर सकता है, खत्रियों या वैश्यों में नहीं। अब 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक कानून' के अनुसार 'असवर्ण'-विवाह को वैध मान लिया गया है। जो अपने वर्ण में शादी करना चाहें उन पर कोई रोक नहीं, परन्तु जो अपने वर्ण के बाहर शादी करना चाहें उन पर की रोक हटा दी गई है।

जैसे अपने समाज में यह विधान था कि अपनी जाति में ही शादी हो सकती है, वैसे ही अपनी जाति में भी कुछ ऐसी पीढ़ियाँ गिनाई गई थीं जिनमें शादी नहीं हो सकती। इस प्रकार कहाँ-कहाँ शादी नहीं हो सकती इसको गिना देना 'बहिर्विवाही-प्रथा' (Exogamy) कहाता है। हिन्दू-प्रथा के अनुसार 'सपिंड'

विवाह नहीं हो सकता, यह 'बहिर्विवाही-क्षेत्र' है। 'सपिंड' का क्या अर्थ है? बालक का दो व्यक्तियों से सम्बन्ध होता है—पिता से, और माता से। प्राचीन शास्त्रकारों ने पिता की सात पीढ़ियों और माता की पाँच पीढ़ियों में विवाह का निषेध किया था। इसीको 'सपिंडता' कहते हैं। इस प्रकार का सपिंड-विवाह नहीं हो सकता। जिसका विवाह होने को है उससे पीढ़ी की गणना की जाती है। अब जो 'हिन्दू विवाह तथा तलाक'-विधेयक स्वीकृत हुआ है उसके अनुसार पिता की वर्जित पीढ़ियाँ सात से पाँच तथा माता की वर्जित पीढ़ियाँ पाँच से तीन कर दी गई हैं। अर्थात्, अब सपिंड-विवाह के निषेध का अर्थ होगा पिता की पाँच तथा माता की तीन पीढ़ियों में शादी न कर सकना। इस दृष्टि से 'सपिंड-विवाह-निषेध' तथा 'बहिर्विवाही-प्रथा' (Exogamy) का एक ही अर्थ है। सपिंड-विवाह 'समान-रुधिर-विवाह' (Consanguineous marriage) का ही दूसरा नाम है। सपिंड-विवाह के निषेध का अर्थ है समान-रुधिर वालों के आपसी विवाह की मनाही।

सपिंड के अतिरिक्त सगोत्र-विवाह का भी हिन्दु-समाज में निषेध है। गोत्र की समानता समान-रुधिरवालों में भी हो सकती है, असमान-रुधिरवालों में भी। भाई-बहिन का, जबतक बहिन की शादी नहीं हो जाती, एक ही गोत्र होता है, शादी के बाद लड़की का गोत्र बदल जाता है, जहाँ शादी होती है वहाँ का गोत्र हो जाता है। जिन लोगों से हमारा रुधिर का कोई सम्बन्ध नहीं उनका और हमारा भी एक ही गोत्र हो सकता है। १९४६ के 'सगोत्र-विवाह'-कानून के अनुसार अब 'सगोत्र-विवाह' पर कोई

प्रतिबन्ध नहीं रहा । 'सगोत्र-विवाह' को समान-रुधिर-विवाह नहीं कहा जा सकता। 'सपिंड' को समान-रुधिर-विवाह कहा जा सकता है ।

हिन्दू-समाज में अबतक स्त्री-पुरुष को 'तलाक' का कानूनी अधिकार नहीं था। पुरुष अपनी स्त्री को छोड़कर या बिना छोड़े दूसरा विवाह कर सकता था, परन्तु स्त्री पुरुष को छोड़कर दूसरा विवाह नहीं कर सकती थी। जहाँ प्रथा हो वहाँ की दूसरी बात है, परन्तु आम हिन्दू-क़ानून यही था। अगर पुरुष ने स्त्री को छोड़ दिया है, तो अपने भरण-पोषण के लिए वह कानून का सहारा लेकर पति से सहायता लेने की अधिकारिणी थी, और अगर स्त्री अपनी मर्ज़ी से छोड़ कर गई है, तो पति उसे कानूनन अपने पास ला सकता था, यह कहना कि पति ने दूसरी शादी कर ली है, या व्यभिचारी है इस बात में अबतक रुकावट नहीं था। अगर यह सिद्ध हो जाता कि पति कुष्ठ-आतशक आदि किसी असाध्य रोग से पीड़ित है, अविवाहता को घर रखे हुए है, मार-पीट करता है, स्त्री का उसके घर आकर रहना असुरक्षित है, तब अदालत को अधिकार था कि पत्नी के विरुद्ध पति के दावे को ख़ारिज कर दे । अब 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक कानून' के अनुसार पति-पत्नी दोनों को किन्हीं ख़ास-ख़ास अवस्थाओं में तलाक का अधिकार दे दिया गया है। वे अवस्थाएँ हैं—(१) अगर यह सिद्ध हो जाय कि दोनों में से कोई भी शादी के समय नपुंसक था और अब तक है, (२) अगर यह सिद्ध हो जाय कि पति किसी दूसरी स्त्री को रखैल के तौर से रखे हुए है या पत्नी का किसी दूसरे पुरुष के साथ संबंध है या वह वेश्या का जीवन व्यतीत

कर रही है, (३) अगर दोनों में से कोई एक हिन्दू-धर्म का परि-त्याग करके दूसरे धर्म में प्रवेश कर ले, (४) अगर दोनों में से कोई भी एक मानसिक-रोग से इतना पीड़ित है कि उसका इलाज नहीं हो सकता और कम-से-कम पाँच साल से उसकी चिकित्सा होती रही है, तथा (५) अगर यह सिद्ध हो जाय कि दोनों में से कोई असाध्य कुष्ट-रोग से पीड़ित है।

यद्यपि हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक-कृत्य है, 'संस्कार' (Sacrament) है, तथापि अब जो प्रवृत्तियाँ चल पड़ी हैं, जो नये कानून बन रहे हैं, उनके अनुसार यह भी एक 'ठेके' (Contract) का रूप धारण करता जा रहा है। विवाह जिस मतलब से किया जाता है अगर यह उस मतलब को पूरा करता है तो ठीक, अगर अपने मतलब को पूरा नहीं करता, तो टूट सकता है —यह विचार अब हिन्दू-समाज में भी बढ़ रहा है।

मुस्लिम-समाज में विवाह

मुसलमानों में विवाह को एक 'ठेका' (Contract) माना जाता है। ठेका दो व्यक्तियों में होता है, और अपनी मर्ज़ी से होता है, इसलिए मुसलमानों में विवाह का 'प्रस्ताव' और 'स्वीकृति'—ये दोनों आवश्यक मानी गई हैं। प्रस्ताव करते हुए कहा जाता है कि मैंने तुम्हारे साथ विवाह किया, और इस प्रस्ताव की स्वीकृति देते हुए कहा जाता है कि मुझे यह विवाह मंज़ूर है। मुसलमानों में स्त्री अनेक पतियों से शादी नहीं कर सकती, परन्तु पुरुष को चार स्त्रियों तक शादी करने का अधिकार है। इस दृष्टि से इनमें बहुपत्नी-प्रथा प्रचलित है। दूसरे की विवाहिता पत्नी से शादी नहीं की जा सकती। इसी कारण जब भारत में

मुसलमान आये, तो हिन्दुओं ने अपनी छोटी बच्चियों की शादी करना शुरु कर दिया। पति की मृत्यु या तलाक के बाद ही स्त्री दूसरी शादी कर सकती है। तलाक हुआ हो तो तीन, और पति मर गया हो तो चार चान्द्र-मास बीत जाने पर स्त्री विवाह कर सकती है, अगर स्त्री गर्भवती हो तो सन्तान उत्पन्न होने के बाद। जिस प्रकार अन्य जातियों में कई सम्बन्ध विवाह में निषिद्ध हैं, जिसे 'बहिर्विवाही-प्रथा' (Exogamy) कहते हैं, इसी-प्रकार मुसलमानों में पिता की स्त्रियों, माताओं, अपनी लड़कियों, अपनी सगी बहनों, चाची-मामियों, भाई-बहिन की लड़कियों से शादी मना है। मुसलमान स्त्री ग़ैर-मुसलिम पुरुष से शादी नहीं कर सकती, परन्तु मुसलमान पुरुष मुस्लिम, ईसाई तथा यहूदी स्त्री से शादी कर सकता है। विवाह के समय लड़के को लड़की के लिये दहेज़ देना पड़ता है। कहते हैं, हज़रत मुहम्मद ने कम-से-कम १० दिरम देने का आदेश दिया था जिसका आजकल की परिभाषा में १०७ रुपया अर्थ बनता है। दिरम को दो भागों में बाँटा गया है। आधा भाग तो विवाह के समय ही देना होता है, बाकी आधा भाग स्त्री को तलाक हो तब या पति की मृत्यु के समय मिल जाता है। मुसलमानों में एक और प्रकार का विवाह भी माना गया है। यह शिया-सम्प्रदाय में प्रचलित है, और इसे 'मुताह' कहते हैं। 'मुताह'-विवाह एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है, जो उस अवधि के समाप्त होने पर समाप्त समझा जाता है। यह एक प्रकार का 'साथी-विवाह' (Companionate marriage) है। इस दृष्टि से मुससमानों के शिया लोग अमरीकनों से भी आगे बढ़े-चढ़े हैं। इस विवाह

से जो सन्तान हो वह जायज़ मानी जाती है।

अंग्रेज़ तथा भारतीय-ईसाइयों में विवाह

जब अंग्रेज़ भारत में आये, उनमें से कई यहाँ बस गये, पादरियों ने यहाँ के लोगों को ईसाई मत की दीक्षा देनी शुरु की, तब से यह अनुभव किया जाने लगा कि अंग्रेज़ तथा भारतीय ईसाइयों के विवाह के लिए पृथक् कानून बनाने की आवश्यकता है। अंग्रेज़ ईसाइयों पर विवाह का अंग्रेज़ी कानून लागू हुआ, परन्तु भारतीय ईसाइयों पर न सिर्फ़ अंग्रेज़ी कानून लागू हो सकता था, न सिर्फ़ भारतीय कानून। उनके लिए १८७२ में 'इंडियन-क्रिश्चियन मैरेज एक्ट' बनाया गया। यह विवाह दो तरह से हो सकता है--या तो गिर्जे में, या रजिस्ट्रार के सामने जाकर विवाह को रजिस्टर्ड कराने से। गिर्जे में हो, तो प्रातःकाल ६ से लेकर सायंकाल ७ बजे तक हो सकता है, अगर आस-पास ५ मील तक कोई गिर्जा न हो, तो जिस स्थान पर विवाह होना हो उस स्थान की विशेष तौर पर स्वीकृति लेना ज़रूरी है। विवाह करने से पहले उस का सार्वजनिक स्थान पर नोटिस चिपकाया जाता है। अगर किसी को कोई आपत्ति न हो, तो दो मास के भीतर विवाह कर लेना आवश्यक है, न हो, तो दुबारा नोटिस देना पड़ता है। विवाह के समय गिर्जे में या रजिस्ट्रार के सामने, जिस प्रकार की भी शादी हो रही हो, कहना पड़ता है कि जो व्यक्ति यहाँ साक्षी के तौर से उपस्थित हैं उनके सम्मुख मैं यह घोषणा करता हूँ कि अमुक को मैं अपनी वैध स्त्री (अथवा वैध पति) स्वीकार करता हूँ। अंग्रेज़ तथा भारतीय-ईसाइयों की इस घोषणा के शब्दों में थोड़ा-सा भेद है, वैसे दोनों में विवाह की प्रथा समान है। इनमें

एक-विवाह प्रथा है और विवाह का रूप एक ठेके का है।

पारसी तथा सिक्खों में विवाह

पारसियों में भी विवाह तथा तलाक़ दोनों प्रचलित हैं। १८६५ में इनका विवाह-कानून बना। इनका विवाह पारसी पुरोहित द्वारा दो साक्षियों के सामने होना चाहिये। संस्कार का नाम 'आसीर्वाद' है, आसीर्वाद के बिना कोई विवाह नहीं हो सकता। बहु-विवाह निषिद्ध है। विवाह एक 'ठेका' है, इसलिए किन्हीं ख़ास अवस्थाओं में तलाक जायज़ है। सिक्खों की विवाह की प्रथा को 'आनन्द-विवाह' कहते हैं। इसके सम्बन्ध में १९०९ में कानून बना जिसका अभिप्राय यह था कि 'आनन्द'-विधि से जो विवाह संस्कार हों, वे जायज़ समझे जायेंगे। इस विधि में यज्ञ आदि कुछ नहीं होता, गुरु-ग्रन्थ-साहब का आनन्द-पाठ होता है। सिक्खों में तलाक की प्रथा नहीं है।

स्पेशल मैरेज एक्ट

जिन विवाहों का हमने वर्णन किया वे भिन्न-भिन्न धर्मों को आधार बनाकर किये जाते हैं, परन्तु यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति किसी धर्म-विशेष को न मानता हो। ऊपर कहे गये विवाहों में जो जिस धर्म को मानता है वह उसी धर्म वालों में विवाह कर सकता है। 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक'-विधेयक जो १९५४—५५ में स्वीकृत हुआ है उसमें, हिन्दुओं में भी जो जातियों के बन्धन हैं उन्हें शिथिल किया गया है, धर्म के बंधन को नहीं। बंगाल में ब्राह्मोसमाज के अनुयायियोंने आंदोलन किया कि भिन्न-भिन्न धर्मोंको माननेवालों को अधिकार होना चाहिए कि वे आपस में शादी-विवाह कर सकें। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि १८९२ में 'स्पेशल मैरेज

एक्ट' पास हुआ। इस विवाह में वर-वधू को यह घोषित करना पड़ता है कि वे ईसाई, यहूदी, हिन्दू, मुसलमान, पारसी, बौद्ध, सिक्ख या जैन किसी धर्म को नहीं मानते। इसका यह मतलब नहीं कि व्यक्ति के ऊपर किसी धर्म-विशेष का कोई नियम लागू नहीं हो सकता। सम्पत्ति, दायभाग आदि के सम्बन्ध में उनके वैय्यक्तिक-धर्म के कानून ही उन पर लागू समझे जाते हैं। इस कानून के आधीन विवाह करने वाले की पति या पत्नी जीवित नहीं होना चाहिए, वर की १८ तथा वधू की १४ वर्ष से कम आयु नहीं होनी चाहिए, अगर दोनों में से कोई भी पक्ष २१ वर्ष से कम आयु का है, तो उसे अपने अभिभावकों की स्वीकृति लेनी चाहिए, दोनों का रुधिर का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। विवाह से पूर्व दोनों में से एक को विवाह का नोटिस देना चाहिए, यह नोटिस रजिस्ट्रार के यहाँ दर्ज होना चाहिए, इसके १४ दिन बाद विवाह हो सकता है। प्रायः इस कार्य के लिए डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट रजिस्ट्रार का कार्य कर देता है। उसके सामने तीन साक्षियों को लाना होता है जिनके समक्ष वर-वधू एक-दूसरे के लिए यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम एक-दूसरे को पति-पत्नी स्वीकार करते हैं। इसके बाद उन्हें विवाह का एक सर्टीफ़िकेट दे दिया जाता है। यह विधि विवाह को ठेका मानकर चली है अतः इसमें तलाक हो सकता है।

१९२३ में इस विधान में कुछ परिवर्तन किया गया। इस प्रकार का विवाह करने वालों को दत्तक पुत्र लेने का अधिकार न रहा, और अगर जो व्यक्ति इस प्रकार से अपनी शादी करता था वह किसी का दत्तक-पुत्र होता था तो उसे उस परिवार से अपने को पृथक् समझना होता था।

११

वैवाहिक-सामञ्जस्य

(MARITAL ADJUSTMENT)

कोई समय था जब परिवार में पुरुष की प्रधानता ही परिवार को बाँधे रखने तथा स्त्री-पुरुष के वैवाहिक-सम्बन्ध को बनाये रखने के लिए पर्याप्त थी। 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) में पुरुष के हुक्म से ही सारी व्यवस्था कायम रहती है, पुरुष के सामने स्त्री तथा बाल-बच्चे उसकी आज्ञा पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं, परिवार में कोई झगड़ा नहीं खड़ा होता। परन्तु वर्तमान-युग में अवस्था बदलती जा रही है। जब निर्वाह, भरण-पोषण के लिए पुरुष पर निर्भर रहना आवश्यक था तब दूसरी बात थी। अब अनेक देशों में स्त्रियाँ अपने पाँवों पर खड़ी होने लगी हैं। जहाँ स्त्रियों में आत्म-निर्भरता नहीं थी वहाँ भी अब स्त्री-शिक्षा के प्रचार से स्त्रियां अपने को बिल्कुल निराश्रित नहीं पा रहीं। वे अनुभव करती हैं कि अपने बाहु-बल तथा बुद्धि से वे आजीविका उपार्जन कर सकती हैं। ऐसी अवस्था में पेट पालने के लिए वे अपने को पुरुष-मुखापेक्षी नहीं अनुभव करतीं। अगर वे अब पुरुष पर इतनी निर्भर नहीं रहीं, तो उन्हें विवाह के बन्धन में बाँधने वाली 'प्रेम' के सिवाय दूसरी क्या वस्तु रह जाती है? पहले के परिवारों में 'प्रेम' को वह स्थान नहीं था जो आज मिलता जा रहा है। पहले स्त्री-पुरुष विवाह

करते थे, प्रेम हो या न हो, विवाह स्त्री के रोटी के प्रश्न को हल करने का एक साधन था, इसलिए जीवन बड़े सुख से बीत जाता था। आज दिनोंदिन अनुभव किया जाने लगा है कि विवाह का मुख्य काम 'आर्थिक-समस्या' (Economic problem) को हल करना उतना नहीं जितना 'मानसिक-समस्या' (Psychological problem) को हल करना है, 'प्रेम' की समस्या को हल करना है। 'पितृ-सत्ताक-परिवार' का उद्देश्य व्यक्ति की आर्थिक-समस्या को हल करना था, इसीलिए उसका मुख्य रूप 'संयुक्त-परिवार' (Joint family) का रहा। आज भी बहुत अंश तक पिता की ही परिवार में प्रधानता है, परन्तु नये विचारों, नई उमंगों, नई भावनाओं का परिवार में संचार हो रहा है, यह अनुभव किया जाने लगा है कि परिवार में पुरुष की दृष्टि ही अन्तिम दृष्टि नहीं है, स्त्री की भी अपनी दृष्टि है, सन्तान की भी दृष्टि है, और परिवार की समस्या को हल करते हुए सब की समस्या को एक समझ कर उसका हल करना होगा। आज स्त्री-पुरुष अपने को आर्थिक-बन्धनों से इतना बंधा हुआ नहीं समझते, जितना 'प्रेम' के बंधनों से बंधा हुआ समझते हैं। 'प्रेम' का बन्धन व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता को मानकर चलता है। इस दृष्टि से पति की स्त्री से और स्त्री की पति से 'प्रेम' की माँग वर्तमान-युग के 'जन-सत्ताक युग' (Democratic age) की माँग है। जब विवाह में स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के साथ पालन-पोषण-भरण का ही व्यवहार नहीं होता, 'प्रेम' का संबंध और 'प्रेम' का व्यवहार होता है, तब हम कहते हैं कि उनका 'वैवाहिक-सामञ्जस्य' (Marital adjustment) है, जब

विवाह-संबंध में से प्रेम निकल जाता है, स्त्री-पुरुष अनुभव करने लगते हैं कि वे एक-दूसरे से मेल नहीं खाते, उनका एक-दूसरे से दिल नहीं मिलता तब हम कहते हैं कि उनका 'वैवाहिक-असामञ्जस्य' (Marital maladjustment) है।

'वैवाहिक-सामञ्जस्य' जिन कारणों से नहीं हो पाता उन पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि उन कारणों को दूर कर देने से अपने-आप 'वैवाहिक-सामञ्जस्य' स्थापित हो जाता है। 'वैवाहिक-असामञ्जस्य' के अनेक कारणों में से चार मुख्य कहे जा सकते हैं। वे चार निम्न हैं :—

(१) प्रेम के काल्पनिक-विचार (Emotional Romanticism),
(२) यौन-विकार (Sexual maladjustment),
(३) स्त्री-पुरुष का सामाजिक तथा वैय्यक्तिक भेद (Social inequality),
(४) आर्थिक-तनाव (Economic tensions).

१. प्रेम के काल्पनिक विचार

'प्रेम' के सम्बन्ध में नौ-जवानों में कई प्रकार की कल्पनिक धारणायें दिखाई देती हैं। 'प्रथम-दृष्टि में प्रेम' हो जाने को बड़ा महत्व दिया जाता है। यह समझा जाता है कि जिस विवाह का आधार प्रेम होगा वह जीवन में अन्त तक बना रहेगा। आजकल के नाटक-सिनेमा-उपन्यासों के वातावरण ने युवक-युवतियों की प्रेम की प्यास को और अधिक चमका दिया है। प्रेम के तराने गाते हमारे नौजवान मस्त फिरते हैं। अगर वे कोई गीत गाते हैं तो प्रेम का, बात करते हैं तो प्रेम की, उन्हें किसी

बात की चाह है तो प्रेम की। उनके अन्तरतम में प्रेम की चाह इतना घर कर लेती है कि प्रेम ही उनका जीना, प्रेम ही मरना हो जाता है। वे समझते हैं कि विवाह में प्रेम की यह अखंड मस्ती बनी रहनी चाहिए। जहाँ विवाह में उन्हें अपने दूसरे साथी में ज़रा उदासीनता नज़र आयी कि उन्हें अपना स्वप्न भग्न हुआ दीखता है। जिनके प्रेम में बाधा पहुँचती है, चाहे वह माता-पिता द्वारा पहुँचे, समाज द्वारा पहुँचे, या विवाह करने के उपरान्त एक-दूसरे को जान लेने के बाद आँखें खुल जायँ, वे धक्के को बर्दाश्त नहीं कर सकते, कोई आत्मघात कर बैठते हैं, कोई दुनिया को कोसने लगते हैं, विवाहित व्यक्ति एक-दूसरे से निराश हो जाते हैं। प्रेम के इस काल्पनिक विचार ने कई घरों को बसाया और बसा कर उजाड़ दिया। प्रेम होना चाहिए, परन्तु यह समझना कि जवानी का प्रेम अन्त तक अपने मस्तानेपन को जारी रखेगा यथार्थता को न देखना है। विवाह के लिए इस प्रकार के प्रेन के अलावा अन्य बातों की भी आवश्यकता है। लिपमैन का कथन है कि जो लोग विवाह में प्रेम और प्रेम के सिवाय अन्य 'कुछ नहीं' देखना चाहते उन्हें विवाह के थोड़ी देर बाद विवाह में प्रेम तो नहीं पर 'कुछ नहीं' नज़र आने लगता है। पति-पत्नी के एक-दूसरे के साथ रहते-रहते, धीरे-धीरे जो प्रेम का सहज परिपाक होता है वह देरपा होता है, चिर-काल तक टिकनेवाला होता है। 'सामञ्जस्य' विवाह में धीरे-धीरे होनेवाली एक प्रक्रिया है, एकदम आस्मान से आ टपकनेवाली चीज़ नहीं। जिनके पास 'प्रेम' के सिवाय और दूसरी ऐसी कोई चीज़ नहीं जो उनकी एक-समान दिलचस्पी का केन्द्र हो, वे सिर्फ़ प्रेम करते-करते थक जाते

हैं। 'प्रथम-दृष्टि का प्रेम' तो यौवन की उमंग से कहीं-न-कहीं हो ही जाता है, यह तो प्रकृति का मानव की नस्ल को स्थिर बनाये रखने का एक साधन है, परन्तु इस आपातत: प्रेम को स्थिर रूप तभी दिया जा सकता है जब प्रेम के अतिरिक्त भी कोई वस्तु हो जिसको स्त्री-पुरुष दोनों प्रेम करें। दोनों की रुचि, पसन्द-नापसन्द के विषय एक न होंगे, तो यह प्रेम देर तक नहीं टिकेगा। क्योंकि प्रेम के दीवाने प्रेम के सिवाय और कुछ नहीं देखते इसलिए जब यह प्रेम का बुख़ार उतर जाता है, तो वे तलाक करने को दौड़ते हैं, योरुप में स्त्रियाँ प्रेम का बुख़ार उतर जाने पर फिर और किसी को ढूंढ़ने लगती हैं जो उन्हें उसी तरह की प्रेम की गफ़लत में रख सके जो उन्हें प्रथम-प्रेम में मिली थी। जब तक प्रेम के सम्बन्ध में हमारे विचार सही नहीं होंगे तबतक प्रेम के काल्पनिक-विचारों से विवाह का सामञ्जस्य टूटता रहेगा।

२. यौन-विकार

पति-पत्नी के प्रजनन के अंगों के किसी प्रकार के विकार के कारण भी उनका सामञ्जस्य नहीं रहता। इन विकारों का प्रतीकार करने के लिए योग्य-चिकित्सक की सलाह लेना आवश्यक हो जाता है। ध्यान रखने की बात यह है कि स्त्री-पुरुषों में प्रजनन के अंगों के सम्बन्ध में जो भी कमियाँ हैं उन सब की सफल चिकित्सा हो सकती है। बचपन के दूषित जीवन के कारण भी कभी-कभी विवाहित व्यक्ति अपने को बुरी हालत में पाते हैं, और विवाह करके घबरा जाते हैं। इसी दृष्टि से बचपन में ही प्रजनन-सम्बन्धी बहुत-सी बातों का ज्ञान वैज्ञानिक ढंग से

बालकों को करा देना चाहिए। जिस प्रकार शरीर के अन्य अंगों का ज्ञान कराया जाता है उसी प्रकार प्रजनन-संबंधी अंगों का ज्ञान दे देने में क्या हर्ज है? जब तक बालकों को इनका ज्ञान नहीं होता तबतक उनमें जिज्ञासा बनी रहती है, अच्छे-बुरे साथियों से वे ऊल-जलूल बातें सुनते और सीखते हैं। जब उन्हें इन सब बातों का पता लगना ही है, तो सही ढंग से लगे तभी ठीक है। जिनको इन विषयों का वैज्ञानिक तौर पर ज्ञान हो जाता है, उन्हें विवाह करने के बाद किसी प्रकार के असमंजस में नहीं पड़ना पड़ता। लड़कों का ज्ञान इस विषय में दूषित होता ही है, लड़कियों को तो कुछ भी ज्ञान नहीं होता। माता का कर्तव्य है कि हर बात का ठीक-ठीक ज्ञान बालिका को करा दे ताकि विवाह के बाद वह अपने को बिल्कुल असमंजस की स्थिति में न पाये।

३. स्त्री-पुरुष का सामाजिक तथा वैधानिक भेद

विवाह में दो भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रखने वाले प्राणियों का अत्यन्त गहन मेल होता है। इन दोनों में से प्रत्येक का व्यक्तित्व अपनी निश्चित दिशा में विकास कर रहा होता है। जिन व्यक्तियों का मेल होता है उनमें से प्रत्येक की वंश-परंपरा, परिस्थिति सब-कुछ अबतक भिन्न रह चुकी होती है, और अपने ही ढंग की होती है। दोनों एक ही सामाजिक या आनुवंशिक परंपरा में पले हुए होते हैं। इस प्रकार के दो अत्यन्त भिन्न व्यक्तियों का विवाह-बन्धन से एक हो जाना कोई साधारण घटना नहीं है। इनके एक होते हुए भी इनमें 'वंश-परंपरा' तथा 'परिस्थिति' के 'आनुवंशिक' (Hereditary) तथा 'सामाजिक' (Social)

भेद रहते ही हैं। एक जिस प्रकार के माता-पिता की सन्तान है दूसरा उससे भिन्न प्रकार के माता-पिता की सन्तान है। एक जिस परिस्थिति में रहा है दूसरा उससे सर्वथा भिन्न परिस्थिति में रहा है। ऐसे भिन्न व्यक्तियों के मेल में भिन्नता को मिटाने का प्रयत्न आसान नहीं है। दोनों भिन्न तो हैं ही, और अपने आगे के विकास में भी वैय्यक्तिक-भिन्नता की दिशा में बढ़ रहे हैं। इनमें सामञ्जस्य स्थापित करना विवाह का एक आधारभूत उद्देश्य है। जब इन भिन्न व्यक्तियों में एकत्व की भावना नहीं होती, तब 'तनाव' (Tension) उत्पन्न हो जाता है। इस तनाव के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं, और उन्हीं कारणों के अनुसार 'तनाव के प्रकार' (Types of tension) भी भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का एक मुख्य 'तनाव' होता है, बाकी गौण 'तनाव' होते हैं, जो इसी मुख्य 'तनाव' के इर्द-गिर्द घूमते हैं। 'तनाव' ज़रा-ज़रा सी बात पर हो जाता है। 'तनाव' के उत्पन्न होने का कारण पति-पत्नी में से किसी की किसी इच्छा का पूर्ण न होना है। वैवाहिक-सामञ्जस्य के लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार के 'तनावों' को उत्पन्न न होने दिया जाय, और जहाँ 'तनाव' उत्पन्न होता नज़र आये, झट उसका प्रतीकार किया जाय।

अभी हमने पति-पत्नी की जिस भिन्नता का वर्णन किया वह उन दोनों की स्वाभाविक-भिन्नता है। यह भिन्नता पति-पत्नी में तो क्या, मनुष्य-मनुष्य में पायी जाती है। कोई दो मनुष्य एक-से नहीं होते। इस स्वाभाविक-भिन्नता के अतिरिक्त दोनों में एक भिन्नता ऐसी है जो कृत्रिम है, समाज द्वारा उत्पन्न की

गई है। हमारे समाज में पति बड़ा और पत्नी छोटी समझी जाती है। ऊँच-नीच का यह भेद-भाव पति-पत्नी में संघर्ष उत्पन्न कर देता है। यह वास्तव में 'प्रभुता-पराधीनता का संघर्ष' (Ascendance-submission conflict) है। जहाँ पत्नी की स्वाभाविक इच्छाओं का पति के अपने जन्म-सिद्ध माने हुए अधिकारों के साथ टाकरा होता है वहाँ दोनों में 'तनाव' उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त पति पुरुष होने के नाते अपने को स्त्री से बड़ा समझता है, वह समझता है तो समझे, परन्तु नहीं, स्त्री भी स्त्री होने के नाते अपने को छोटा समझती है। पति को अपना बड़ा समझना ही संघर्ष उत्पन्न कर देने के लिए काफ़ी है, उसके साथ स्त्री का अपने को छोटा समझना हर बात में उसकी पति के विरुद्ध शिकायत का कारण बन जाता है। पति-पत्नी के संघर्ष को मिटाने के लिए इस 'प्रभुता-पराधीनता के संघर्ष' का मिटना आवश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि जो भावना सदियों से उत्पन्न हो चुकी है उसे एकदम नहीं मिटाया जा सकता, परन्तु जब तक यह भावना रहेगी तब तक इन दोनों के संघर्ष का एक प्रमुख कारण बना रहेगा। पति-पत्नी में से पत्नी का अपने को पति से छोटा समझने का एक कारण यह है कि पति-पत्नी के संयोग से वह बच्चे की माँ बन जाती है, पुरुष स्वतंत्र रहता है। ज्यों-ज्यों सन्तति-निरोधक उपायों से स्त्री का सन्तान के ऊपर नियमन होता जा रहा है, जब चाहे सन्तान होने दे जब चाहे न होने दे, त्यों-त्यों पुरुष भी स्त्री के अपने से नीचा होने की अपनी पुरानी धारणा को बदलता जा रहा है, स्त्री ने भी अब अपने को पुरुष से नीचा समझना छोड़ दिया है। एल्फ्रेड एडलर

का कथन है कि स्त्री को तुच्छ समझने तथा इसीके परिणामस्वरूप पुरुष को महान् समझने के हेत्वाभास से पति-पत्नी का पारिवारिक सुख नष्ट हो जाता है, इन दोनों में हर समय छोटे-बड़े का 'तनाव' वना रहता है। इस 'तनाव' को दूर करने का उपाय यही है कि ये दोनों अपने को एक-दूसरे से छोटा-वड़ा समझने के स्थान में वरावर का समझें। जव स्त्री-पुरुष जीवन में एक-दूसरे के साथी बनकर रहेंगे तव पारिवारिक असामञ्जस्य अपने-आप दूर हो जायगा। हमें यह समझना होगा कि स्त्री तथा पुरुष एक वृत्त के दो भाग हैं—ऐसे भाग जिनमें यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों में से कौन क्षुद्र तथा कौन महान् है। इन दोनों के मिलने से वृत्त पूरा होता है, स्त्री तथा पुरुष के समान-स्तर पर मेल से विवाह का सामञ्जस्य हो जाता है।

कभी-कभी स्त्री-पुरुष के वैवाहिक 'तनाव' का कारण उनका 'सांस्कृतिक-वैषम्य' (Cultural difference) होता है। पुरुष एक संस्कृति में पला है, स्त्री दूसरी संस्कृति में पली है, दोनों के सांस्कृतिक-संस्कार, उनकी सांस्कृतिक-परंपराएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। शुरु-शुरु में तो प्रेम के प्रवाह में वे शादी कर वैठते हैं, समझते हैं कि उनके मार्ग में कोई चीज़ रुकावट नहीं वन सकती, परन्तु जब प्रेम का नशा उतर जाता है, उन्हें हर वात में वैषम्य दिखाई देने लगता है। हिन्दू-संस्कृति में पले व्यक्ति के संस्कार और तरह के होते हैं, मुस्लिम-संस्कृति में पले के और तरह के। हिन्दु-मुसलमान का विवाह आगे चलकर सांस्कृतिक-विषमता को सामने लाकर पति-पत्नी में 'तनाव' उत्पन्न कर देता है। किस तरह का पूजा-पाठ करना, किस तरह के कपड़े पहनना,

बच्चों को किस तरह की शिक्षा देना —ये सब बातें शुरु में कुछ महत्व नहीं रखतीं परन्तु यही बातें आगे चलकर मतभेद का विषय बन जाती हैं।

सांस्कृतिक-विभिन्नता के अलावा वैय्यक्तिक-विषमता भी पति-पत्नी के तनाव का कारण बन जाती है। मनोविश्लेषण-वादी कहते हैं कि मनुष्य का व्यक्तित्व बालपन में ही बन जाता है। हम आगे चलकर, बड़े होकर क्या बनेंगे, हमारा क्या स्वभाव होगा, इस सबकी नींव जीवन के प्रारंभिक वर्षों में ही पड़ जाती है। हमारा स्वभाव कैसे बनता है? एक बालक अपने माता-पिता की इकली सन्तान है। उसे जो-कुछ वह चाहता है मुंह से बात निकालते ही मिल जाती है। इस परि-स्थितिं का उसके स्वभाव पर अपना ही प्रभाव है। एक और बालक है जो अनेक सन्तानों में अन्तिम है। उसे सबको अपना बुज़ुर्ग मानना पड़ता है। ऐसी ही परिस्थिति में वह पैदा हुआ है अतः उसके 'व्यक्तित्व' का प्रतिमान' (Personality pattern) अपने ढंग का विकसित होता है। वंश-परंपरा से बने और सामाजिक-परिस्थिति से बने इस व्यक्तित्व में भेद है। यह व्यक्तित्व जन्मसिद्ध न होकर सामाजिक है क्योंकि सामाजिक-परिस्थिति में इसका निर्माण हुआ है। अगर परिस्थिति दूसरी तरह की होती तो व्यक्तित्व का विकास भी दूसरी तरह का होता। पति-पत्नी दोनों का 'व्यक्तित्व का प्रतिमान' (Personality pattern) भिन्न-भिन्न होता है। इस भिन्नता को सामने रखते हुए जबतक वे पारस्परिक सामाजिक व्यवहार नहीं करेंगे, जबतक हरेक अपने इस सामाजिक-व्यक्तित्व का दूसरे के प्रति

कुछ त्याग नहीं करेगा, तबतक वैवाहिक-सामञ्जस्य नहीं पैदा हो सकेगा।

अनमेल विवाह के पति-पत्नी की आयु की विषमता, स्वास्थ्य की विभिन्नता आदि कारण तो हैं ही, परन्तु ऊपर जिन कारणों का निर्देश किया गया है वे अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण हैं। आयु तथा स्वास्थ्य की विषमता बहुत थोड़े विवाहों में पायी जाती है, इनकी तरफ़ तो माता-पिता का भी सब से पहले ध्यान जाता है, परन्तु जिन बातों की तरफ़ हमने निर्देश किया है उनकी तरफ़ ध्यान नहीं जाता, यद्यपि ये सब बातें अत्यावश्यक हैं।

४. आर्थिक-तनाव

विवाह को सफल बनाने के लिए पति-पत्नी का हर क्षेत्र में सहयोग होना चाहिए। कई क्षेत्र तो इतने महत्वपूर्ण हैं कि अगर उनमें सहयोग न हो, तो तनाव उत्पन्न हो जाना अवश्यंभावी है। इनमें से तीन का वर्णन हमने ऊपर किया। चौथा महत्वपूर्ण क्षेत्र जिसमें सहयोग न होने से पति-पत्नी में तनाव उत्पन्न हो जाता है आर्थिक-क्षेत्र है। पति समझता है कि क्योंकि वह कमाता है इसलिए पत्नी को अपनी इच्छानुसार रुपया ख़र्च करने का कोई अधिकार नहीं है। बच्चों की तरह स्त्री को रुपये-दो-रुपये के लिए पति का मुंह ताकना पड़ता है। कई लोग स्त्री को कुछ निश्चित रकम दे देते हैं, और उससे ज़्यादा ख़र्च करने का उसे अधिकार नहीं होता। पत्नी का अपना निजी भी कोई ख़र्च हो सकता है इसे नहीं समझा जाता। सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि पति जो-कुछ कमाकर लाये पत्नी के हवाले कर दे। पुरुष के अनाप-शनाप ख़र्च हुआ करते हैं, स्त्रियों के कपड़ा-

ज़ेवर के सिवाय कुछ नहीं। कभी-कभी पति कुछ कमाता ही नहीं है, इससे भी घरभर के लोग दु:खी रहते हैं। आटे-दाल तक के लिये कर्ज़ा निकालना पड़ता है। इसका इलाज तो यही है कि पुरुष कमाये, नहीं कमायेगा तो तनाव तो बना ही रहेगा, तनाव बना रहेगा तो संघर्ष और असामञ्जस्य भी बना रहेगा।

उक्त चार कारणों के अतिरिक्त कभी-कभी रिश्तेदारों और बच्चों को लेकर भी झगड़ा उठ खड़ा होता है। पुरुष अपने रिश्तेदारों का पक्ष लेता है, स्त्री अपने रिश्तेदारों का—और दोनों आपस में झगड़ पड़ते हैं। कभी बच्चों को लक्ष्य में रखकर लड़ाइयाँ होती हैं। पति कहता है, तुमने इन्हें बिगाड़ दिया, पत्नी कहती है, तुमने बिगाड़ दिया। आजकल सामाजिक-व्यवस्था कुछ इस प्रकार की होती जा रही है कि पति-पत्नी एक ही प्रकार से आमोद-प्रमोद में समय नहीं बिताते। पति को फ़ुर्सत नहीं होती, पत्नी के पास कुछ काम नहीं होता। पति के पास फ़ुर्सत हो, तो वह परिवार के साथ अपना समय बिताने के स्थान में अपने अन्य साथियों के साथ समय बिताता है, स्त्री के पास क्योंकि फ़ुर्सत-ही-फ़ुर्सत है इसलिए वह भी अपने साथियों की तलाश करने लगती है। इस प्रकार भी वैवाहिक-जीवन में असामञ्जस्य आ जाता है। इस प्रकार के सभी असामञ्जस्य को दूर करने का उपाय यही है कि इसके कारण को दूर कर दिया जाय।

१२

परिवार का आय-व्यय का लेखा

(FAMILY BUDGET)

१. परिवार व्यय का केन्द्र है

हम समझते हैं कि पुरुष जो-कुछ कमा कर लाता है वही परिवार की आय है। ऐसी बात नहीं है। किसी भी परिवार की आय के तीन स्रोत हो सकते हैं—(१) वह आय जो पिता-माता, पुत्र-पुत्री आदि परिवार के बाहर से कमा कर ले आते हैं; (२) वह आय जो परिवार के सदस्य घर में काम करके —रोटी बनाकर, झाड़ू-बुहारी देकर, सूत कात कर, आचार-चटनी बनाकर, बच्चों को स्वयं पढ़ा कर—परिवार के अन्दर उत्पन्न करते हैं; (३) वह आय जो सड़क बनाकर, पोस्ट-आफ़िस खोल कर, नहर का पानी देकर, बिजली का प्रबन्ध करके तथा इसी प्रकार के अन्य सार्वजनिक कार्य करके राष्ट्र या समाज हमें देता है। अगर हम परिवार के अन्दर स्वयं काम न करें, या अगर राष्ट्र हमारे लिए जो-कुछ प्रबन्ध कर देता है वह न करे, तो हमारा ख़र्चा और अधिक बढ़ जाय।

पहले कभी परिवार का काम 'व्यय' के साथ-साथ 'आय' करना भी होता था। जिस-जिस चीज़ की परिवार को ज़रूरत होती थी, वह परिवार में पैदा कर ली जाती थी। हम इस पुस्तक में देख आये हैं कि आजकल परिवार में से 'उत्पत्ति'

(Production) का कार्य निकल गया है। 'उत्पादन' का कार्य परिवार से बाहर कल-कारखाने करने लगे हैं। परिवार का मुख्य कार्य 'उपभोग' (Consumption) रह गया है। परन्तु क्या परिवार केवल वस्तुओं का उपभोग-ही-उपभोग, व्यय-ही-व्यय करता है, उत्पादन या आय कुछ भी नहीं करता? उत्पादन तथा उपभोग अथवा आय तथा व्यय की दृष्टि से आज परिवार क्या करता है ? रूई सूरत के किसी देहात में उत्पन्न हुई, रेल के ज़रिये वह अहमदाबाद पहुँची, कल-कारखाने में उसका सूत और कपड़ा बना, दिल्ली की दुकान पर हमने कपड़ा ख़रीद लिया। यहाँ तक तो उत्पादन घर से बाहर-ही-बाहर हुआ। अब परिवार के लोग दुकान पर जाकर १० गज़ कपड़ा ख़रीद लाये, पत्नी ने फाड़ कर बच्चों के कुर्ते और जाँघिये बनाय। इसदृष्टि से उत्पादन की लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया में जो घर से बाहर हुई, 'अन्तिम-उत्पादक' का काम परिवार ने किया। अर्थ-शास्त्रानुसार वस्तुओं को तीन प्रक्रियाओं में से गुज़रना पड़ता है—'उत्पादन'-'वितरण'-'उपभोग' (Production, Distribution, Consumption)—चीज़ कहीं पैदा हुई, वहाँ पड़ी रहती या दुकान में आकर भी पड़ी रहती तो उसका कुछ फ़ायदा नहीं था, अतः कुछ मैंने ली, कुछ आप ने ली, बँटी, बँटने के बाद हमने-आपने उसका उपभोग किया। इस तीन प्रकार की प्रक्रिया में आज के ज़माने में परिवार 'अन्तिम-उत्पादक' (Final agent of production) रह गया है। 'वितरण' की दृष्टि से भी परिवार 'अन्तिम-वितरक' (Final agent of distribution) है। परिवार के लोग दुकान से जो माल

ख़रीद कर लाते हैं वह परिवार के हर सदस्य की आवश्यकता के अनुसार जिसको जितनी चीज़ चाहिये बाँट दी जाती है। 'उत्पादन' तथा 'वितरण' का कार्य तो परिवार इतना ही करता है, हाँ, 'उपभोग' का मुख्य कार्य परिवार का है, इस दृष्टि से आज परिवार आय का कार्य इतना नहीं करता जितना व्यय का, उपभोग का कार्य करता है, इसीलिए परिवार को 'मुख्य उप-भोक्ता' (Chief agent of consumption) कहा जा सकता है।

तो फिर परिवार का मुख्य काम तो व्यय करना है। पहले जब परिवार उत्पादन तथा उपभोग, आय तथा व्यय दोनों काम करता था, तब जिस चीज की ज़रूरत होती थी पैदा कर ली जाती थी, आज जब इन दोनों का बन्धन टूट-सा गया है, तब इस बात की ज़बर्दस्त ज़रूरत है कि परिवार के सामने अपनी वास्तविक-स्थिति का हर-समय ज्ञान रहे, इस बात का पता रहे कि व्यय आय के अनुसार हो रहा है या नहीं, कहीं ज़रूरी चीज़ों की जगह ग़ैर-ज़रूरी चीज़ों पर तो व्यय नहीं हो रहा, जिस समय हम कुछ कमा नहीं सकेंगे उस समय के लिए भी कुछ बचाया जा रहा है या नहीं। इस प्रकार का लेखा-जोखा तभी हो सकता है जब हम अपने परिवार के रोज़ के ख़र्चे को लिखें, हमें पता हो कि हर रोज़, हफ्तेभर में, महीने भर में हमारा कितना व्यय हुआ। इस प्रकार के आय-व्यय के ब्यौरे को देखकर हम अपनी आमदनी और ख़र्च को एक-दूसरे से बाँध सकते हैं। आय-व्यय को सन्तु-लित रखने के उद्देश्य से व्यय की भिन्न-भिन्न मदों को वस्तु-वार और तिथि-वार लिखते जाने को ही पारिवारिक आय-व्यय

का लेखा या पारिवारिक-वजट कहते हैं। पारिवारिक-बजट रखने से यह लाभ है कि मनुष्य को अपने आय-व्यय का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है, वह व्यय को आय से बढ़ने नहीं देता, उसे बचत करने की आदत पड़ जाती है, किस मद में कितना ख़र्च करना चाहिए इसका उसे अन्दाज़ हो जाता है, अनावश्यक ख़र्च बन्द करके जीवन का स्तर उठाया जा सकता है।

अगर हम अपने और पड़ोसियों के पारिवारिक-बजट बनायें और उनका सूक्ष्म-अध्ययन करें, तो हमें पता लगेगा कि हम-सबके वजट में एक नियम काम कर रहा है। वह नियम क्या है ? वजट से हमें परिवार के व्यय का अन्दाज़ होता है। व्यय होता है—भोजन में, कपड़ों में, मकान के किराये में, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई में, टैक्सों में, आमोद-प्रमोद में। जर्मनी के डा० ऐंजल्स (Engels) ने १८५७ में जर्मनी के सेक्सनी प्रान्त में अनेक परिवारों के आय-व्यय के लेखे का अध्ययन किया। उन्होंने परिवारों को तीन श्रेणियों में बाँटा—ग़रीव-परिवार, मध्यम-श्रेणी के परिवार और उच्च-श्रेणी के धनी-परिवार। इन परिवारों के व्यय की मदों को भी उन्होंने (१) भोजन, (२) कपड़ा, (३) मकान-किराया, (४) रोशनी-ईन्धन, (५) पढ़ाई, (६) टैक्स, (७) स्वास्थ्य, (८) अन्य-व्यय—इस प्रकार बाँट दिया। उन्होंने भिन्न-भिन्न परिवारों का इन भिन्न-भिन्न मदों पर जो ख़र्च देखा उसमें एक नियम काम कर रहा था। उस नियम की ओर आने से पहिले डा० एंजल्ल के अध्ययन को हम चित्र रूप में यहाँ देते हैं :—

२. ऐंजल्स के नियम का नक्शा

व्यय के मद	कुल आय का किए जाने वाला प्रतिशत व्यय			
	ग़रीब परिवार	मध्यम-श्रेणी परिवार	उच्च-श्रेणी परिवार	विवरण
१. भोजन	६०	५५	५०	आमदनी बढ़ने के साथ प्रतिशत व्यय घटता है
२. कपड़ा ३. मकान-किराया ४. रोशनी-ईंधन	१८ १२ ५	१८ १२ ५	१८ १२ ५	आमदनी बढ़ने के साथ प्रतिशत व्यय समान रहता है
५. पढ़ाई ६. टैक्स ७. स्वास्थ्य ८. अन्य-व्यय	२ १ १ १	३·५ २ २ २·५	५·५ ३ ३ ३·५	आमदनी बढ़ने के साथ प्रतिशत व्यय भी बढ़ता है
कुल योग	१००	१००	१००	

३. ऐंजल्स का पारिवारिक-बजट का नियम

डा० ऐंजल्स के पारिवारिक-बजटों के अध्ययन से तीन परिणाम निकले :—

(१) ज्यों-ज्यों आमदनी बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों भोजन पर व्यय किया जाने वाला आय का प्रतिशत भाग बढ़ता नहीं, परन्तु घटता जाता है। उदाहरणार्थ, अगर किसी की आय सौ

से दो-सौ हो जाय, तो खाने में वह पहले से दुगुना नहीं ख़र्च करता। कारण यह है कि क्योंकि आदमी नपा-तुला ही है, पाँच की जगह पचास रोटी नहीं खा सकता, फल-मेवा आदि ही बढ़ा सकता है, इसलिये आमदनी की वढ़ती के साथ भोजन-व्यय घटता है।

(२) दूसरा परिणाम यह निकला कि कपड़ा, मकान-किराया, रोशनी-ईन्धन आदि पर आमदनी का उसका प्रतिशत व्यय उतना ही रहता है। इसका यह मतलब नहीं कि अगर पहले दस रुपया ख़र्च होता था, तो आय दुगुनी होने पर भी दस रुपया ही ख़र्च होगा। इन मदों में भी आय की वढ़ती के साथ व्यय वढ़ेगा, परन्तु प्रतिशत व्यय वही रहेगा जो पहले था। अगर पहले आमदनी सौ रुपया थी और ख़र्च अठारह रुपया था, तो अव आमदनी दो सौ हो जाने पर ख़र्च छत्तीस रुपया हो जायगा—अर्थात् प्रतिशत व्यय वैसे-का-वैसा बना रहेगा।

(३) तीसरा परिणाम यह निकला कि पढ़ाई-लिखाई, टैक्स, स्वास्थ्य, आमोद-प्रमोद में आय के वढ़ने के साथ व्यय भी वढ़ जायगा। पढ़ाई में पहले अगर सौ रुपय पर दो प्रतिशत व्यय होता था, तो आय के दो-सौ हो जाने पर इस पर व्यय वढ़ता जायगा—ट्यूशन लगा दी जायगी, वच्चों के लिए जो किताबें नहीं ख़रीदी जाती थीं वे ख़रीद ली जायँगी—इत्यादि।

पारिवारिक-वजट तय्यार करने में तीन वातों की आवश्यकता होती है। पहले तो एक नोट बुक में तिथिवार हर वस्तु के ख़रीदने का दैनिक व्यौरा रहता है, फिर इस व्यौरे को महीना समाप्त होने पर तिथिवार से वस्तुवार व्यौरा वनाना होता है, फिर वस्तुवार व्यौरे से प्रतिशत वार व्यौरा वनाया जाता है।

इस प्रकार प्रतिशत वार व्यौरे से एक-दृष्टि में ही अपने घरेल खर्च की सारी स्थिति आँखों के सामने आ जाती है। डायरी के तिथिवार व्यौरे से वस्तुवार व्यौरे का नक्शा निम्न प्रकार बन सकता है :—

४. पारिवारिक-बजट के वस्तुवार व्यौरे के नक्शे का नमूना

घर वाले का नाम.................................पता.......................................

परिवार के सदस्यों की संख्या.....................मासिक आमदनी..........

बजट का समय............१ जुलाई १९५५ से ३१ जुलाई १९५५ तक

खर्च का मद	कितनी खरीदी	किस दर से खरीदी	कुल क्या खर्च हुआ
१. भोजन			
गेहूँ			
चना			
जौ			
मक्का			
चावल			
मूंग			
उर्द			
अरहर			
तेल			
घी			
योग			
२. वस्त्र			
धोती			
पजामा			
कुरता			
टोपी			
योग			

३. मकान किराया मरम्मत			
योग			
४. रोशनी-ईंधन लकड़ी कोयला दियासलाई बिजली			
योग			
५. पढ़ाई फ़ीस किताबें कापियां			
योग			
६. टैक्स गृह-कर जल-कर नहर पानी			
योग			
७. स्वास्थ्य भंगी फ़िनायल झाड़ू डाक्टर की फ़ीस दवा			
योग			

८. अन्य व्यय सिनेमा धोबी नाई दान			
योग			
९. बचत या कर्ज़ा इतना बचा इतना कर्ज़ा दिया			
योग			

ऊपर के नक्शे में जो मदें दी गई हैं उनमें आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इस नक्शे के तय्यार हो जाने के बाद हमारी आमदनी का क्या प्रतिशत किस मद में खर्च हुआ है यह जानने के लिए निम्न नक्शा बनाया जा सकता है:—

५. आय के प्रतिशत व्यय का नक्शा

व्यय के मद	कुल व्यय		यह व्यय कुल आय का प्रतिशत क्या बनता है ?
	रुपया	आना	
१. भोजन			
२. कपड़ा			
३. मकान-किराया			
४. रोशनी-ईंधन			
५. पढ़ाई			
६. टैक्स			
७. स्वास्थ्य			
८. अन्य-व्यय			
९. बचत या कर्ज़ा			
योग			

६. पारिवारिक-बजट में सावधानी

समाज-शास्त्री को अपने ही नहीं आस-पास के, पड़ौस के लोगों का भी पारिवारिक-बजट बनाना चाहिए ताकि उसे समाज की वास्तविक आर्थिक-अवस्था का पता चल सके। आजकल पारिवारिक-बजटों को इकट्ठा करने की तरफ़ सरकार का ध्यान जा रहा है। श्रमियों, मज़दूरों तथा मध्य-वर्ग के लोगों के पारिवारिक-बजट एकत्रित किये जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उनका व्यय किन-किन मदों में अधिक हो रहा है। अगर किसी क्षेत्र का व्यय शराब तथा नशे में अधिक हो रहा हो, तो उस पर कानूनी या अन्य किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता पड़ जाती है। कुछ वर्षोंससे भारत सरकार का श्रम-विभाग इस प्रकार के पारिवारिक-बजट बनाने में विशेष ध्यान दे रहा है। इस प्रकार के लेखे-जोखे बनाने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बने-बनाये बजट मिलते नहीं। लोगों को अपना हिसाब रखने की आदत नहीं। उनके पास जाकर हिसाब बनाना पड़ता है। जनता शक्की तबीयत की है। वे यह सोचकर कि न जाने क्यों यह पूछ-ताछ हो रही है कुछ बताते नहीं। विशेषज्ञों को भी इस प्रकार के बजट इकट्ठा करने में असुविधा होती है। फिर भी इस प्रकार के बजट बनाने में निम्न बातों का ध्यान रहे, तो ठीक है—

(१) **जाँच का उद्देश्य**—पहले तो यह स्पष्ट होना चाहिए कि हम बजट बनाने की जिस जाँच में लगे हैं उसका उद्देश्य क्या है? क्या हम यह जानना चाहते हैं कि इस वर्ग का नशे आदि में, भोग-विलास में क्या खर्च होता है, या आवश्यक

सामग्री को ये कितना खरीदते हैं, कितना नहीं खरीदते, शिक्षा पर ये लोग कितना व्यय करते हैं, इनकी कर्ज़दारी कितनी है, बचत की आदत कितनी है। बजट एकत्रित करनेवाले के सन्मुख अपना उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए, किसी प्रश्न को, किसी समस्या को सामने रखकर उसे बाहर निकलना चाहिए।

(२) **जाँच का क्षेत्र**—दूसरी बात यह जान लेनी आवश्यक है कि जिस क्षेत्र को हमने जाँच के लिए चुना है, जिन व्यक्तियों से हमने पूछ-ताछ शुरू की है, वे अपने वर्ग के ठीक-ठीक प्रतिनिधि हैं भी, या नहीं। धनी व्यक्तियों के विषय में जाँच करने के लिए हम किसी मक्खीचूस सेठ के यहाँ पहुँच गये, उसके आधार पर हमारे परिणाम ग़लत होंगे। जिन लोगों से हम जाँच करें वे अपने वर्ग के सामान्य प्रतिनिधि होने ही चाहियें, नहीं तो जाँच से निकले हुए नियम ठीक नहीं होंगे।

(३) **जाँच की प्रश्नावली**—अपने देश की जनता अशिक्षित है। जाँच करने के लिए जाने से पहले हमें जाँच की प्रश्नावली तय्यार कर लेनी चाहिये। प्रश्नों को सिलसिलेवार पूछने से उत्तर देने वाला चिढ़ नहीं जाता, नहीं तो बदमज़गी पैदा हो जाती है। प्रश्नावली का ढंग इस तरह का होना चाहिए जिससे लोग यह न समझने लगें कि उनका कोई भेद पता लगाया जा रहा है।

(४) **जांच करने वाले का तर्ज़-तरीका**—कभी-कभी जाँच करनेवाले के रोब-दाब को देखकर भी लोग बिदक जाते हैं। सरकार अक्सर पटवारियों के ज़रिये ऐसी जाँच कराती है। यह तरीका ठीक नहीं। जाँच करनेवाले की वेष-भूषा, उसकी

वोल-चाल, मिलने का ढंग ऐसा होना चाहिए जिससे उत्तर-दाता वेखटके उससे वात कर सके और यह समझ सके कि वास्तव में वह किसी देश-हित के कार्य में सहयोग दे रहा है, यह न समझे कि यह कोई सी० आई० डी० का इन्स्पेक्टर आ गया है।

७. पारिवारिक-वजट के लाभ

इस प्रकार के जो पारिवारिक-बजट तय्यार होते हैं उनसे परिवार वालों को, अर्थ-शास्त्रियों को, राजनीतिज्ञों तथा समाज-सुधारकों को अनेक लाभ होते हैं। वे लाभ निम्न हैं :—

(१) **परिवार को लाभ**—पारिवारिक-बजट वनाने से हमारे सामने अपनी आर्थिक-स्थिति का चित्र हर-समय स्पष्ट वना रहता है। कहीं हम स्वास्थ्यकर भोजन के स्थान में स्वास्थ्य-नाशक चाय-पानी, वीड़ी-तम्वाकू में ही तो रुपया वर्वाद नहीं कर रहे, कहीं हम आवश्यक-सामग्री ख़रीदने के स्थान में सिनेमा-नाटक में ही तो अपनी पूंजी को नहीं फूंक रहे, कहीं हम भविष्य के लिए रुपया जमा करने के स्थान में सिर पर कर्ज़ा ही तो नहीं चढ़ा रहे, कहीं हम रुग्णावस्था या वृद्धावस्था को ध्यान में रखकर ख़र्च करने की जगह युवावस्था में ही सारा खेल ख़त्म नहीं कर रहे—यह सव-कुछ पारिवारिक-वजट वनाने से ही स्पष्ट होता है।

(२) **अर्थ-शास्त्रियों को लाभ**—पारिवारिक-वजट वनाने से अर्थ-शास्त्रियों को यह लाभ है कि उनके हाथ कई अर्थ-शास्त्र के नियम लग जाते हैं। ऐंजल्स ने 'उपभोग का नियम' (Law of consumption) इसी अध्ययन से निकाला, और भी ऐसे नियम निकल सकते हैं। इससे यह पता चल जाता है कि

समाज के किस वर्ग में धन का अपव्यय हो रहा है, भोग-विलास बढ़ रहा है, व्यय आय की अपेक्षा बहुत बढ़ा हुआ है।

(३) **राजनीतिज्ञों तथा समाज-सुधारकों को लाभ**—राजनीतिज्ञों को तो इससे यह लाभ है कि उन्हें पता चल जाता है कि कौन-सी वस्तु समाज के लिए अहितकर होती हुई भी बहुत खप रही है, उस पर वे आसानी से कर लगा सकते हैं, कोई कह भी नहीं सकता और देश की आय भी बढ़ जाती है। इस प्रकार के अध्ययन से यह पता चलता है कि जनता का जीवन-स्तर उठ रहा है या गिर रहा है, लोगों में चोरी-लूटमार क्यों चल रही है, राजनैतिक-क्षेत्र में कम्यूनिस्ट विचार-धारा क्यों जड़ पकड़ने लगी है। पारिवारिक-बजट में समाज का आर्थिक-नक्शा खिचा मिलता है, और आर्थिक-नक्शे में राजनैतिक-नक्शा खिचा मिलता है। जैसी लोगों की आर्थिक-स्थिति होगी वैसा पारिवारिक-बजट बनेगा और वैसी ही राजनैतिक विचार-धारा वह निकलेगी। राजनीतिज्ञ इन बजटों में देश की आर्थिक-नाड़ी को पकड़ लेते हैं और कानूनों के ज़रिये जनता के दुःख-दारिद्र्य को दूर करते हैं। समाज-सुधारक भी इन्हीं बजटों के अध्ययन से नशा-निवारण तथा अन्य समाज-सुधारक नीतियों का निर्माण करते हैं।

८. मित-व्ययिता के उपाय

मनुष्य जो-कुछ भी व्यय करता है उसका उद्देश्य इच्छाओं की पूर्ति होता है। पैसा ख़र्च करने वाले के सामने सबसे बड़ा लक्ष्य यही होता है कि वह धन का किस प्रकार व्यय करे जिससे उसकी इच्छाओं की अधिक-से-अधिक पूर्ति हो सके। प्रायः न

जानते हुए भी वह अपनी इच्छाओं को इसी क्रम में बाँट लेता है। कई इच्छाओं का सर्व-प्रथम स्थान है, कई का द्वितीय, कई का तृतीय। इनमें भी जो इच्छा पूर्ण होती जाती है वह पीछे हटती जाती है, जो पूर्ण नहीं हुई होती वह प्रथम होती जाती है। मनुष्य यह सोचा करता है कि जिन इच्छाओं को भी उसने पूर्ण करना है उन पर कैसे कम-से-कम व्यय करे ताकि कम-से-कम व्यय में अधिक-से-अधिक इच्छा पूर्ण हो जाय। इसके लिए रुपया ख़र्च करने की कुशलता होनी चाहिए। कुशलता इसी बात में है कि किस ख़र्च से अधिक-से-अधिक आत्म-तुष्टि प्राप्त हो। यह दो बातों पर आश्रित है—(१) 'व्यय करने के तरीके' (Method of spending) पर तथा (२) ख़रीदी हुई वस्तुओं के 'मूल्य-स्तर' (General price-level) पर। इन दोनों का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

(१) **व्यय करने के तरीके**—जो धन व्यय किया जाता है उससे अधिक-से-अधिक किस प्रकार लाभ उठाया जा सकता है इस संबंध में पैन्सन (Penson) ने निम्न सुझाव दिये हैं :—

(क) **अपनी आवश्यकताओं का ठीक-ठीक ज्ञान**—बाज़ार में जाकर जो वस्तु सामने नज़र आये उसे ख़रीद लेना, जो चमकीली-भड़कीली हो, उसकी ज़रूरत हो या न हो, ख़रीद लेना अपव्यय है। मनुष्य को ख़रीदते हुए सबसे पहले अपने से यह पूछना चाहिए कि क्या मुझे इसकी ज़रूरत है? ज़रूरत न होने पर सस्ती चीज़ भी ख़रीदना महँगा है क्योंकि वह घर आकर किसी आवश्यकता को पूर्ण नहीं करेगी, पड़ी रहेगी।

(ख) **आवश्यकता की उग्रता का क्रम-ज्ञान**—मनुष्य को

यह भी ज्ञान होना चाहिए कि जिन वस्तुओं की मुझे आवश्यकता है उनका उग्रता-क्रम क्या है ? कौन-सी वस्तु की मुझे फ़ौरन ज़रूरत है, कौन-सी के लिए मैं अभी ठहर सकता हूँ। जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को इस क्रम में रख सकेगा वह कम-से-कम ख़र्च करके अधिक-से-अधिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकेगा, जिन आवश्यकताओं को नहीं पूर्ण कर सकेगा वे ऐसी होंगी जो उग्र नहीं हैं, जिनके पूर्ण होने के लिए वह ठहर सकता है।

(ग) **माल की जाँच की योग्यता**—बाज़ार में माल तरह-तरह का होता है। कोई माल लुभानेवाला पर बेकार होता है, कोई सादा पर टिकाऊ होता है। तड़क-भड़क में न जाकर जो टिकाऊ माल को ख़रीदते हैं, वे भी अपव्यय से बचकर मितव्ययिता का काम करते हैं और एक तरह से बचत कर लेते हैं।

(घ) **वस्तु के प्राप्ति-स्थान का ज्ञान**—कई वस्तुएँ किसी ख़ास जगह पर सस्ती मिलती हैं, दूसरी जगह पर महँगी मिलती हैं। शाक-सब्ज़ी मंडी में सस्ती मिलेगी, फेरी वाले से महँगी। कई लोग सिर्फ़ पासवाली दुकान से माल ख़रीद लेते हैं या सदा किसी एक ही दुकान से माल लेते हैं। भाव-ताव देखकर, सस्ती जगह ढूँढ कर, उसका पता लगाकर अक्सर बहुत बचत हो जाती है।

(ङ) **मोल-भाव करने की निपुणता**—विना भाव ठहराये सामान ख़रीदने से कभी-कभी बड़ा नुकसान उठाना पड़ता है। एक वार जो चीज़ तुलवा ली उसका दाम देना ही पड़ता है। ख़रीदते हुए दाम पहले ठहरा लेने से दुकानदार भी कम-से-कम

दाम लेता है। दाम पहले ठहराने में भी कुशल व्यक्ति दूसरों से हर चीज़ का दाम सस्ता ठहरा लेते हैं।

(२) **ख़रीदी हुई वस्तुओं का मूल्य स्तर**—ऊपर जो बातें कही गई हैं उनमें ख़रीदने वाले व्यक्ति की निपुणता से चीज़ सस्ती या महँगी ख़रीदी जाती है, परन्तु प्रायः यह भी होता है कि समय-समय पर वस्तुओं का मूल्य-स्तर भी घटता-बढ़ता रहता है, और उसी के अनुसार मनुष्य अपने परिमित धन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कम-अधिक कर पाता है। उदाहरणार्थ, गत विश्वयुद्ध से पहले १९३८–३९ में वस्तुओं के जो दाम थे, उनकी अपेक्षा आज १९५५ में दाम चौगुने के लगभग हो गये हैं, वस्तुओं का मूल्य-स्तर चढ़ गया है। मूल्य-स्तर चढ़ जाने के साथ अगर आमदनी भी सबकी चौगुनी हो जाती तब बात दूसरी थी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसका यह परिणाम है कि आज हम अपनी इच्छाओं को अपने धन से उतना नहीं पूर्ण कर सकते जितना कम आमदनी होने पर भी विश्व-युद्ध से पहले कर सकते थे। जिस तरह आज वस्तुओं का मूल्य-स्तर चढ़ गया है उसी तरह कभी उतर भी सकता है। उस समय अगर लोगों की आमदनी यही रही तब हम अपनी अब से अधिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकेंगे।

बाल-कल्याण
[CHILD-WELFARE]

१३

गर्भवती की देख-भाल

(CARE OF THE EXPECTANT MOTHER)

विवाह का परिणाम सन्तानोत्पत्ति है, परन्तु जो वर-वधू विवाह करते हैं, उन्हें सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राय: कुछ ज्ञान नहीं होता। इसी कमी को पूरा करने के लिए आजकल सर्व-साधारण को गर्भवती तथा सन्तान की देख-भाल का कुछ-कुछ परिचय कराने का प्रयत्न किया जा रहा है ताकि क्रियात्मक जीवन में प्रवेश करने पर उन्हें बिल्कुल शून्य से न प्रारंभ करना पड़े।

१. प्रसव के दिन की गणना

जबतक मासिक-स्राव होता रहता है तबतक गर्भ-धारण नहीं होता, गर्भ-धारण होने के बाद मासिक-स्राव बन्द हो जाता है। गर्भ-धारण होने के कितने दिन बाद सन्तान होगी—इस सम्बन्ध में कुछ गणनाएँ बनी हुई हैं। गर्भावस्था २७३ से २८० दिन तक, अर्थात् ४० सप्ताह तक रहती है। आगे दिये गये चित्र-पट से यह जाना जा सकता है कि किस दिन सन्तान होगी।

निम्न चित्र अमरीका के डा० विलियम कैन्टर का बनाया हुआ है। इस चित्र के अनुसार गणना का प्रकार यह है कि जिस महीने से मासिक-स्राव बन्द हुआ है उस महीने की उस तारीख से गणना शुरू की जाती है जिस दिन मासिक-स्राव शुरु हुआ था। उदाहरणार्थ, अगर गर्भ-स्थित होने से पहले जो मासिक-स्राव

हुआ था उसका प्रारंभ २६ जनवरी को हुआ था, तो २६ जनवरी से गणना शुरू होगी। इस प्रकार गणना शुरू करने के वाद
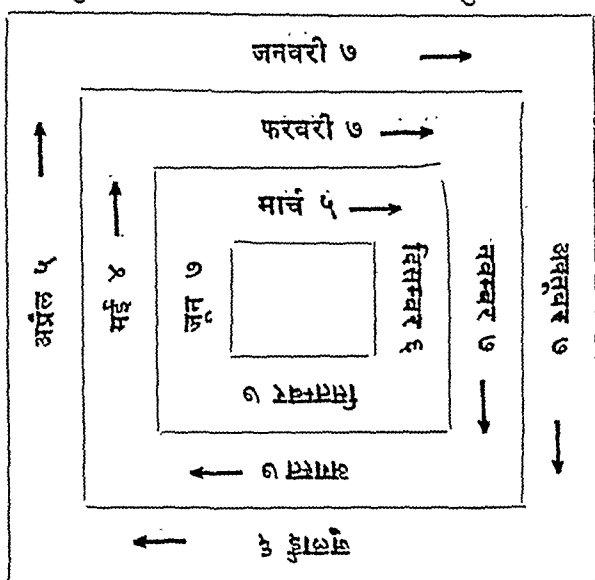
जनवरी के साथ चित्र में दिया गया अंक जोड़ दिया जायगा। जनवरी के साथ चित्र में ७ अंक दिया गया है अतः २६+७=३३ जोड़ हुआ। जनवरी में ३१ दिन होते हैं अतः ३१ निकाल देने के वाद २ दिन बचे। चित्र में जनवरी के आगे एक वाण का चिन्ह दिया गया है जो अक्तूबर की तरफ़ इशारा करता है। इन दो दिन का मतलब यह हुआ कि २६ जनवरी को जो गर्भ-स्थित हुआ था उसका प्रसव-दिन २ अक्तूबर होगा।

२. गर्भ के लक्षण

गर्भ-स्थिति के अनेक लक्षण हैं जिनमें से सवसे पहला लक्षण मासिक-स्राव का वन्द हो जाना है। कभी-कभी अन्य

कारणों से भी मासिक बन्द हो जाता है, परन्तु स्वस्थ स्त्रियों के मासिक वन्द होने का मुख्य कारण गर्भ स्थित हो जांना है। गर्भ-स्थिति का दूसरा लक्षण प्रातःकाल कय होना है। यह लक्षण गर्भ-स्थिति के १०—१५ दिन वाद ही शुरू हो जाता है और तीन-चार महीने तक रहता है। कय प्रायः प्रातःकाल ही होती है, परन्तु अन्य समयों में भी मतली हुआ करती है। तीसरे या चौथे महीने स्तनों को दवाने से कुछ दूध निकल आना गर्भ-स्थिति का तीसरा लक्षण है। यह लक्षण प्रथम-प्रसव में ही काम देता है, उसके वाद तो अगले प्रसवों में बिना गर्भ-स्थिति के भी थोड़ा-वहुत दूध निकल आना विशेष महत्व नहीं रखता। चौथा लक्षण स्तनों का बढ़ना, कठिन तथा गोल होना है, स्तनों के ऊपर की नसें नीली-नीली दीखने लगती हैं, चूचुक बड़े हो जाते हैं, उन पर कुछ गीलापन आने लगता है, उनके आस-पास का चमड़ा गहरा रंग धारण करने लगता है। पाँचवाँ लक्षण पेट का वढ़ना है—यह तीसरे महीने स्पष्ट होने लगता है। बच्चे के पेट में वढ़ने के क्रम हैं—तीसरे महीने गर्भ भगास्थि (बालों वाली हड्डी) तक ही उभरता है। चौथे महीने इस अस्थि से तीन-चार अंगुल ऊपर निकल आता है, पाँचवे महीने नाभि और भगास्थि के वीच में आ जाता है, छठे महीने नाभि की सम-रेखा में आ जाता है, सातवें महीने नाभि से तीन अंगुल ऊपर आ जाता है, आठवें महीने सीने की कौड़ी की हड्डी के बीच तक पहुँच जाता है, नवें महीने इस रेखा से भी तीन इंच ऊपर पहुँच जाता है। पेट के इस प्रकार लगातार वढ़ने के अतिरिक्त गर्भ-स्थिति का छठा लक्षण वच्चे का गर्भाशय में फिरना है। साढ़े चार

महीने के बाद गर्भ का पेट में फिरना अनुभव होने लगता है। यह फिरना फुदकने की तरह अनुभव होता है, इसे स्पन्दन भी कहते हैं। सातवाँ लक्षण गर्भस्थ-शिशु के हृदय की टिक-टिक का अनुभव है—यह प्रायः पाँचवें महीने पेट पर कान लगाने से प्रतीत होने लगता है। आठवाँ लक्षण यह है कि इस अवस्था में गर्भवती की इच्छाएँ एक विकृत रूप धारण कर लेती हैं—कभी वह मट्टी खाना चाहती है, कभी खट्टी चीज़ चाहती है।

३. गर्भ के समय की देख-भाल

सन्तान के भविष्य का निर्माण किसी समय माता-पिता के हाथ में इतना अधिक नहीं होता जितना तब होता है जब माता के गर्भ में रहते हुए उसका अंग-अंग माता के रुधिर से बन रहा होता है। इस समय माता प्रसन्न रहे तो बच्चे पर प्रसन्नता का, चिड़चिड़ी रहे तो चिड़चिड़ेपन का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। माता क्या खाती है, क्या पीती है, कैसे रहती है—इन सबका प्रभाव सन्तान के शारीरिक विकास पर पड़ता है इसलिए गर्भिणी की इस समय की देख-भाल बच्चे की जन्म भर की देख-भाल का काम करती है। गर्भवती के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(क) **हवादार कमरा**—जहाँ तक हो तंग; घुटे हुए कमरे में उसे न रहकर खुले, हवादार कमरे में रहना चाहिए, हो सके तो तंग गलियों वाली जगह भी नहीं रहना चाहिए। अस्वास्थ्यकर स्थान पर रहने से समय से पहले बच्चा हो जाने का डर रहता है। इसी कारण ग्रामीण स्त्रियों का प्रसव शहरी स्त्रियों की अपेक्षा अकष्टकर तथा ठीक समय पर होता है।

(ख) **निद्रा**—निद्रा के विषय में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। ९–१० घंटे सोना चाहिये, परन्तु सोते ही नहीं रहना चाहिए। जहाँ तक हो अपने को चुस्त रखना चाहिए। दिन को न सोकर रात को सोना चाहिए।

(ग) **भोजन**—भोजन के सम्बन्ध में उस पर अधिक नियन्त्रण रखना ठीक नहीं। जो इच्छा हो, जितनी इच्छा हो, जब इच्छा हो, उसे खाना चाहिए। उसमें एक का नहीं दो का शरीर पल रहा होता है। इसका यह मतलब नहीं कि भूख के विना भी ठूसते ही जाना चाहिए, हां, अपने को भूखा कभी न रखना चाहिए। गर्भिणी की भूख स्वयं बढ़ जाती है और साधारण अवस्था की अपेक्षा उसका स्वास्थ्य अच्छा हो जाता है। दूध, मक्खन, मलाई, फल आदि का सेवन करने से कृत्रिम विटिमिन लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कभी-कभी बहुत अधिक लेने से वच्चे का विकास वहुत अधिक हो जाता है और प्रसव में कष्ट होता है अतः भूखके अनुसार ही खाने के नियम का भी सदा ध्यान रखना चाहिए।

दूध प्रति दिन आध सेर से एक सेर तक लिया जा सकता है। दूध से विटैमिन 'ए' तथा कैलसियम और फ़ौसफ़ेट की कमी पूरी होती है। जो लोग अंडे लेते हैं वे एक-दो अंडें लें, तो उनसे उन्हें सुपच रूप में विटैमिन 'डी' मिल जाता है। मांसाहारी लोग इन दिनों जितना मांसाहार का त्याग कर सकें उतना अच्छा है क्योंकि मांस उत्तेजक पदार्थ है और इस समय शरीर को उत्तेजना से वचाये रखना हितकर है। हरी सब्ज़ी दिन में कम-से-कम एक वार, नहीं तो दो वार अवश्य लेनी चाहिए—इससे पेट साफ़

रहता है। एक सेव, दो-तीन सन्तरे लेना भी स्वास्थ्य को बढ़ाता है। गर्भिणी को निम्न प्रकार विटैमिन की आवश्यकता होती है :—

विटैमिन 'ए'—इसकी ४००० यूनिट गर्भिणी स्त्री को प्रतिदिन आवश्यकता है, जो उसे भोजन से पूरी करनी है। कॉयड लिवर आयल, दूध, घी आदि में विटैमिन 'ए' पाया जाता है। यह न हो तो शरीर रोगों का मुकाविला नहीं कर सकता, ताकत की कमी अनुभव होने लगती है। तली हुई वस्तुओं में विटैमिन 'ए' कम हो जाता है।

विटैमिन 'बी'—गर्भिणी स्त्री को इसकी ६०० से ९०० यूनिट मात्रा अपेक्षित है। यह मटर तथा गेहूँ के छिलके में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इसका काम शरीर को सन्तुलित वनाये रखना तथा मस्तिष्क को शक्ति पहुँचाना है।

विटैमिन 'सी'—इसकी ५० से १०० यूनिट आवश्यकता है। सन्तरे, नारंगी, नींबू में इस विटैमिन की प्रभूत मात्रा पायी जाती है। इसकी कमी से मसूड़े फूल आते हैं।

विटैमिन 'डी'—इसकी ४०० से ८०० यूनिट आवश्यकता है। दूध, दही, मक्खन आदि में यह पाया जाता है। त्वचा पर पड़ने वाली सूर्य की किरणों से भी विटैमिन 'डी' प्राप्त होता है। इसकी कमी से हड्डियाँ कमज़ोर हो जाती हैं।

(घ) **व्यायाम**—व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है। गर्भवती स्त्री को कठोर परिश्रम से तो बचना चाहिये परन्तु साधारण परिश्रम अवश्य करते रहना चाहिए। प्रतिदिन का घूमना-फिरना अन्त तक चलता रहे तो कष्ट नहीं होता। शहरों में

बाग-बगीचों में घूमने-फिरने की सुविधा रहती है अतः उसका लाभ उठाना चाहिए।

(ङ) **कब्ज़**—कब्ज़ नहीं होने देना चाहिए। आवश्यकता पड़े तो कभी-कभी अनीमा ले लेना चाहिए।

(च) **मूत्र-परीक्षा**—मूत्र की समय-समय पर परीक्षा कराते रहना चाहिए। कभी-कभी इस अवस्था में पेशाब में एलब्यूमिन जाने लगता है, उसकी ठीक समय पर रोक-थाम हो जानी चाहिए।

(छ) **अन्य शिकायतें**—गर्भिणी को यह समझा देना चाहिए कि अगर किसी समय (१) मूत्र कम आने लगे, (२) लगातार सिरदर्द रहने लगे, (३) दृष्टि में कोई विकार हो जाय, (४) पाँवों में या मुख पर सूजन आ जाय, (५) अत्यधिक रुधिर जाय, (६) सख्त कब्ज़ हो जाय, (७) आख़ीरी दिनों में मतली या वमन होने लगे, अथवा (८) प्रसव के अन्तिम सप्ताहों में यकायक भार में वृद्धि दिखाई दे, तो एक-दम चिकित्सक को बुलाना चाहिए क्योंकि ये शरीर के अन्दरूनी विषों के संचार के लक्षण हैं और इनका तत्काल इलाज करना आवश्यक है। गर्भिणी को प्रतिमास चिकित्सक के पास जाना ही चाहिए, विशेषतः अन्तिम आठ सप्ताह तो अवश्य जाना चाहिए। चिकित्सक को भी देखना चाहिए कि गर्भ ठीक स्थान पर तो है, उसे गर्भिणी की छोटी-मोटी शिकायतों को भी दूर करते रहना चाहिये, और निद्रा-नाश, पेट में जलन, कब्ज़, बवासीर, श्वेत-प्रदर आदि की तरफ़ विशेष ध्यान देना चाहिए।

१४

प्रसव के समय की तय्यारी

(PREPARATION FOR THE BIRTH-EVENT)

प्रसव वह प्रक्रिया है जिसमें 'भ्रूण', 'गर्भोदक' तथा 'भ्रूणावरण'—ये सब गर्भाशय से पृथक् होकर योनि-मार्ग से बाहर निकल आते हैं। जैसे वृक्ष का फल पकने पर स्वयं टहनी से अलग हो जाता है, वैसे ही गर्भ पूर्ण-परिपक्व होने के बाद गर्भाशय से पृथक् होकर बाहर आ जाता है। ऐसा समय आने से पूर्व कोई योग्य चिकित्सक अथवा धाय नियुक्त कर लेनी चाहिए। प्रसव के लिए स्वच्छ, हवादार सूतिकागार तय्यार रखना चाहिए। प्रथम-प्रसव हो तो हस्पताल में प्रबन्ध करना ठीक रहता है, द्वितीय-तृतीय हो तो घर में महीना भर पहले निम्न वस्तुओं को ला रखना चाहिए :—

(१) दो मोमजामे (१ गज़ चौड़े—१½ गज़ लम्बे);
(२) दो शुद्ध चादरें तथा २४ नैपकिन एवं ख़ून सुखाने के लिए दस सेर उम्दा साफ़ कंकड़-हीन मट्टी,
(३) दो-तीन बंडल विलायती रूई जो पानी चूस सके,
(४) तीन-चार औंस लाईसोल, डिटौल, लाल दवा, स्पिरिट,
(५) एक शीशी में एरंडी का तेल,
(६) एक शीशी मीठा या ज़ैतून का तेल,

(७) चार चिलमची,
(८) मल-पात्र (बेड पैन),
(९) गरम पानी की बोतल,
(१०) दूध पिलाने का प्याला,
(११) तीन-चार तौलिये,
(१२) पेट पर बाँधने की पट्टी,
(१३) एक बंडल गाॅज़,
(१४) डस्टिंग पाउडर,
(१५) बोरिक एसिड,
(१६) बालक के पेट के लिए फ़लालैन की पट्टी,
(१७) नाल बाँधने का धागा तथा नाल काटने के लिए उबाली हुई तेज़ कैंची,
(१८) एक औंस एक्सट्रैक्ट अरगट लिक्विड,
(१९) बड़े तथा छोटे दो-दो दर्जन सेफ्टी पिन,
(२०) निद्रा के लिए कोई औषध,
(२१) साबुन,
(२२) नेल-ब्रश ।

प्रसव के सम्बन्ध में सब से मुख्य ध्यान देने की बात यह है कि हरेक वस्तु उबाली जाय, उसे कृमि-रहित कर लिया जाय। ये सब सावधानियाँ हस्पतालों में अधिक संभव हैं, अतः हस्पताल में प्रसव कराना सुविधाजनक है, परन्तु अगर घर में प्रसति का प्रबन्ध किया जाय, तो उबालना, साबुन, लाइसोल, डिटौल, लाल दवा आदि का प्रचुर प्रयोग करना चाहिए। बिना सफ़ाई के हाथों से अनेक दाइयाँ प्रजनन के अंगों का स्पर्श करती रहती हैं

जिससे भिन्न-भिन्न रोग हो जाते हैं, अधिकतर मृत्यु का भी यही कारण होता है।

गर्भ-स्थिति के ३९वें या ४०वें सप्ताह में गर्भाशय नीचे के भाग में खिसक आता है जिससे गर्भिणी की छाती में रहने वाला तनाव हट जाता है, साँस लेने में आराम महसूस होता है, परन्तु नीचे भार आ जाने से ववासीर की शिकायत हो जाती है और मसाने पर वोझ पड़ने के कारण पेशाव वार-वार आता है, पैर भी सूज जाते हैं। ये लक्षण अक्सर पहले प्रसव में दिखाई देते हैं, वाद वालों में कम या नहीं। प्रसव के १५ दिन पहले योनि-मार्ग से एक प्रकार का चिकना, लुवावदार पानी-सा निकलने लगता है जिससे योनि का वाहरी भाग कुछ सूज-सा जाता है, उसका मुख भी कुछ चौड़ा हो जाता है। जव प्रसव वहुत निकट आ जाता है तव गर्भाशय में एक प्रकार का संकोचन-सा अनुभव होने लगता है। गर्भाशय सिकुड़ता और फिर ढीला होता हुआ अनुभव होता है। इस प्रकार के संकोचन का अनुभव होना प्रसव की निकटता को सूचित करता है। इस संकोचन के बाद जव प्रसव बहुत ही निकट आ जाता है तब गर्भिणी को गर्भाशय में शूल अनुभव होने लगता है। यह शूल दो प्रकार का होता है— अनियमित तथा नियमित।

अनियमित शूल कभी कम और कभी अधिक होता है। इस शूल में रक्त तथा श्लेष्मा का बहाव नहीं होता। इसका कारण कब्ज़ होता है और पेट साफ़ होने पर यह दूर हो जाता है। नियमित शूल ही वास्तव में प्रसव की वेदना है। यह शूल नियमित तौर पर लगातार होता रहता है। धीरे-धीरे शुरु

होकर यह उग्र रूप धारण कर लेता है, फिर बन्द हो जाता है। ज्यों-ज्यों प्रसव का समय निकट आता जाता है, त्यों-त्यों प्रथम शूल और द्वितीय शूल के बीच का अन्तर पहले अन्तरों से घटता जाता है, और शूल रहने का समय बढ़ता जाता है। यह कमर से उठ कर धीरे-धीरे सामने योनि-मार्ग की तरफ़ आता है। इस शूल के प्रारंभ होते ही गर्भाशय से रक्त तथा श्लेष्मा का बहाव दिखाई देता है—इसे बोलचाल की भाषा में 'दर्शन' कहते हैं। इस समय एरंडी के तेल की एक मात्रा पिला देने से शूल बढ़ जाता है, कब्ज़ भी नहीं रहती और प्रसव में आसानी होती है।

प्रसव की सम्पूर्ण प्रक्रिया को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—प्रथम दशा, द्वितीय दशा तथा तृतीय दशा। अब हम इन तीनों का क्रमशः वर्णन करेंगे :—

(१) **प्रथम दशा**—प्रथम दशा में शूल प्रारंभ होता है, उसमें कटाव का-सा अनुभव होता है। एक-एक, दो-दो घंटे के अन्तर से दर्द उठता है, हर दर्द के दौरे के साथ श्लेष्मा निकलता है। होते-होते आध-आध घंटे की देरी से दर्द होने लगता है। प्रसव की इस प्रथम दशा में गर्भिणी को टहलते रहना चाहिए, कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए, इससे समय शीघ्र कटता है। अगर एक बार के शूल के बाद दूसरा शूल उठने से पहले गर्भिणी को नींद आ जाय तो अच्छा है। प्रथम दशा शुरु होने से पहले अगर कब्ज़ हो तो एक मात्रा एरंडी का तेल पिला देना चाहिए, यदि दो घंटे तक उसका असर न हो तो अनीमा दे देना चाहिए, पेट साफ़ रहने से प्रसव में आराम रहता है। इस समय मूत्राशय को भी खाली रखने का प्रयत्न करना चाहिए। पहले शूल और

दूसरे शूल उठने के बीच अगर डेढ़-दो घंटे का अन्तर हो, तो गर्म जल से स्नान करा देना भी लाभप्रद है।

(२) **द्वितीय दशा**—द्वितीय दशा में थैली फट कर पानी निकलने लगता है। इस समय अन्दर का पेटी-कोट आदि निकाल देना चाहिए। थैली का पानी कई बार निकलता है। इस समय नैपकिन काम आते हैं। इस समय बच्चे का सिर नीचे की तरफ़ आ जाता है अतः बेड पैन आदि लगाने में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। इस समय पेट में पहले का-सा कटाव का शूल नहीं उठता, पेट में चमक-सी उठती है। इस समय गर्भिणी को नीचे की ओर काँखने और ज़ोर लगाने की कोशिश करनी चाहिए।

(३) **तृतीय दशा**—तीसरी दशा में बच्चा पैदा हो जाता है। इस समय धागा-कैंची आदि नाल काटने के काम आते हैं। बच्चा पैदा होने के बाद आलनोल निकलना प्रारंभ होता है। जब आलनोल अच्छी तरह निकल जाय, तो घंटा भर ज़च्चा को आराम करने दे और आलनोल को धीरे-धीरे हटा ले।

प्रथम दशा को अक्सर १२ से १८ घंटे लग जाते हैं, द्वितीय दशा को पहलौठी में २—३ घंटे और जो पहले बच्चे को जन्म दे चुकी है उसे १—२ घंटे लग जाते हैं। तृतीय अवस्था में तो बच्चा पैदा हो ही चुका होता है। सम्पूर्ण प्रसव-क्रिया पहलौठी में १८ और प्रजाता में १२ घंटे ले लेती है।

बच्चे के उत्पन्न होने के बाद उसे स्नान करा कर वस्त्र भी पहनाने होते हैं इसलिए ६ तनज़ेब की पट्टियाँ, ६ फ़लालैन की पट्टियाँ, ६ मलमल और ६ फ़लालैन के कुर्ते बनवा कर पहले से

रख लेने चाहिएं। कुर्ते टाँगों तक आ सकने योग्य होने चाहिएं। ढीली आस्तीनों वाले और पीछे की तरफ़ बटनों वाले चार अंगरखे भी बना रखने चाहिएँ, इनके बीच में पीछे को तनी बाँधने का प्रबन्ध होना चाहिए। १०-१२ पोतड़े तो अवश्य चाहियें। छोटा मोमजामा, एक छोटी बिछौनी, उस पर छोटी-सी चद्दर, संभव हो तो पंघूड़ा और उस पर मसहरी, सिर के लिए टोपी, पाँवों के लिए सर्दियों में जुराब—इतने सामान का बच्चे के लिए पहले से इकट्ठा कर लेना ठीक रहता है।

१५

नव-जात की देख-भाल

(CARE OF THE NEW-BORN)

१. मोटी-मोटी बातें

नव-जात शिशु तथा बालक में भेद है। उत्पन्न होते ही नव-जात को एक बिल्कुल नवीन तथा अपरिचित परिस्थिति में आना पड़ता है। नौ मास तक वह मानो एक अन्धेरी कोठरी में माता के गर्भ में बन्द पड़ा रहा है। वहाँ का तापमान बाहर के तापमान से भिन्न रहा है, वहाँ उसे भोजन भी मुख द्वारा नहीं मिला, न वहाँ वह फेफड़ों से साँस लेता रहा है, न मल-मूत्र त्याग करता रहा है। इस प्रकार की परिस्थिति से एक सर्वथा भिन्न परिस्थिति में आ जाना हँसी-खेल नहीं है, बच्चे को इस नवीन परिस्थिति के साथ समता स्थापित करनी होती है। प्रकृति ने नव-जात शिशु में अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कितनी असीम सामर्थ्य दे रखी है !

सब से पहले तो यह परीक्षा करनी होती है कि नव-जात जीवित है या मृत है। यह परीक्षा हृदय या नाभि-नाल की धमनी के स्पन्दन से कर ली जाती है। नव-जात का रोना उसके जीवित होने का सबसे बड़ा ऐलान है। जो बच्चे गूंगे होते हैं वे रोते नहीं। रोने से बच्चे के फेफड़े काम करने लगते हैं, और फैल कर श्वास-क्रिया प्रारंभ कर देते हैं। कभी-कभी बच्चा

न रोयें, तो उसे रुलाया जाता है ताकि उसकी श्वास-क्रिया जारी हो जाय। माता के पेट में तो नाभि-नाल के ज़रिये उसे माता द्वारा जीवन मिलता रहता है, अब नाभि-नाल कट जाने से उसका माता से संबंध सर्वथा टूट जाता है, इसलिए नाभि-नाल काटने से पूर्व श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया को पूरी तरह से चला देना उचित है। नव-जात की नाक तथा मुख में भरी श्लेष्मा को स्वच्छ रूई से साफ़ कर देना चाहिए। अगर सब-कुछ करने पर भी रुदन प्रारंभ न हो, तो उस पर ठंडे पानी के छींटे देने चाहियें।

रुदन प्रारंभ हो जाने से श्वास-प्रक्रिया के जारी हो जाने के वाद नाभि-छेदन करना चाहिए। जब तक नाल में स्पन्दन होता रहे उसे नहीं काटना चाहिए। इससे रक्त-स्राव होकर नव-जात के मर जाने का डर है। नाल में स्पन्दन बंद हो जाने पर उसका स्वच्छ, उवाली हुई तेज़ कैंची से छेदन कर देना चाहिए। नाल-स्पन्दन उत्पत्ति के वाद कुछ मिनटों में ही बंद हो जाता है। नाल काट कर उस पर डस्टिंग पाउडर छिड़क देना चाहिए।

गर्भ में नव-जात को माता की गर्मी मिलती है। वाहर आकर उसकी गर्मी कम होने लगती है इसलिए उसे गर्म कपड़े में लपेटे रखना ज़रूरी है ताकि उसके शरीर का तापमान एकदम कम न हो जाय। अगर नव-जात स्वस्थ है, तो प्रसव के वाद स्नान कराने से पूर्व १ घंटा भर उसे गर्म कपड़े में लपेटे ही रखना चाहिए, अगर कमज़ोर है और प्रसव होने में कष्ट हुआ है, तो कई घंटे उसे गर्म कपड़े में लपेटे रखने के वाद प्रथम स्नान कराना चाहिए।

नव-जात की उत्पत्ति के समय उसके शरीर पर एक चिकना पदार्थ लगा रहता है, जो गर्भाशय-जल में पड़े पदार्थों से उसके

शरीर की रक्षा करता है। इसे दूर करना आवश्यक है। इसे दूर करने के लिए पहले एक पानी में स्नान कराया जाय, फिर इसके उतर जाने पर दूसरे पानी से। पानी का तापमान ९९ डिग्री फ़ार्नहाईट का होना चाहिए। स्नान के समय डुवकी नहीं देनी चाहिए। जाँघ, घुटने, वगल और गर्दन को विशेष तौर पर सुखा लेना चाहिए। कोमल तौर पर नव-जात का स्पर्श करना चाहिए ताकि उसकी त्वचा को कष्ट न पहुँचे। इस समय स्वच्छता पर वहुत ही अधिक वल देना चाहिए। आँख धोने के लिए १ औंस नितरे हुए जल में १० ग्रेन वोरिक ऐसिड डाल कर घोल वना लेना चाहिए और उससे आँखें धो डालनी चाहिएँ।

आवश्यक कामों से निपट कर नव-जात का पूरा-पूरा निरीक्षण कर लेना चाहिए। अगर कोई उत्पत्ति-कालीन विकार हो, तो उसे उसी समय हटाया जा सकता है। इसके वाद उसे कपड़े में लपेट कर सुखा देना चाहिए। यह सारा काम इतना थका देने वाला होता है कि नव-जात को अपने-आप नींद आ जाती है। नींद ठीक तरह से आये इसके लिए उसे इस प्रकार लपेटें जिससे टाँगें संकुचित रहें।

नव-जात के भोजन के सम्वन्ध में भी पूरी जानकारी हासिल कर लेना आवश्यक है। प्रसव के वाद पहले तीन दिन माता के स्तनों में शुद्ध दूध नहीं होता, इसे खीस कहते हैं। कई चिकित्सक कहते हैं कि खीस को प्रकृति ने ही नव-जात के लिए उत्पन्न किया है, यह आँतों के मल को साफ़ कर देता है, कई कहते हैं कि इसे न देकर एक ड्राम मात्रा एरंडी के तेल की देनी चाहिए, कई कहते हैं, गुनगुने पानी में शहद मिला कर देना चाहिए। उत्पत्ति

के प्रथम २४ घंटे नव-जात को भोजन की ज़रूरत नहीं होती अतः पहले उसे विरेचक देकर उसका पेट साफ़ कर देना चाहिए। माता का दूध प्रायः तीसरे दिन स्तनों में प्रकट होता है। स्तनों को पिलाने से पूर्व और पीछे बोरिक लोशन से धो लेना चाहिए। एक बार में एक स्तन से दूध पिलाये, दूसरे को अगली बार के लिए रख छोड़े। नव-जात को जितना दूध चाहिए उतना लेकर वह स्तन छोड़ देगा, ज़बर्दस्ती नहीं पिलाते जाना चाहिए। प्रायः २० मिनट तक दूध पिलाना ठीक रहता है, अगर इतनी देर पीकर वमन कर दे, तो समय घटा कर १५ मिनट का कर दे। नव-जात को पिलाने से पहले और पीछे तोलकर मालूम किया जा सकता है कि दूध की कितनी मात्रा उसके पेट में गई है। प्रथम २४ घंटों में दूध दो वार, दूसरे २४ घंटों में दिन में तीन वार और रात्रि में एक वार दूध देना चाहिए। तीसरे दिन से प्रत्येक तीन घंटे के अन्तर से दूध दे। रात को सिर्फ़ एक बार दे; और धीरे-धीरे समय बिल्कुल घड़ी की तरह वाँध दे। नियत समय पर दूध देने से नव-जात को नियत समय पर मल-त्याग की आदत पड़ जाती है। आवश्यकता पड़ने पर वीच-बीच में जल दे, और धीरे-धीरे रात का दूध पीना बिल्कुल छुड़ा दे। शुरू के दिनों में जो आदत डाल दी जाती है उसी के अनुसार नव-जात चलने लगता है।

जन्म के समय नव-जात का भार ६–७ पौंड होता है, ऊँचाई १९½ इंच, छाती १३½ इंच तथा सिर १४ इंच होता है। पहले दो-तीन दिनों में तो भार ४ छटांक घट जाता है, परन्तु सात-आठ दिन में यह फिर बढ़कर पहले जितना हो जाता है।

इसके वाद नव-जात का वज़न वढ़ने लगता है । प्रथम तीन मासों में हर हफ्ते ७ औंस भार वढ़ता है । डा० फ्लेशमैन ने भार के वढ़ने की जो सूचिका वनाई है उसके अनुसार भार की वृद्धि निम्न प्रकार होनी चाहिए :—

	पौं०	औंस	ड्राम
प्रथम मास के अन्त में	९	१४	०
द्वितीय मास के अन्त में	११	१५	१४
तृतीय मास के अन्त में	१३	१३	८
चतुर्थ मास के अन्त में	१५	४	१२
पंचम मास के अन्त में	१६	७	१३
छठे मास के अन्त में	१७	६	१०

नव-जात को टट्टी शुरू-शुरू में काली-सी आती है। उसकी आँतों में अफ़ीम जैसा काला-सा पदार्थ होता है जिसे मैकोनियम कहते हैं। यह आँतों के चिकने पदार्थ और रक्त से वनता है । प्रथम चौवीस घंटे में यही दो-चार वार निकलता है। वहुत वदवूदार होता है। दो-तीन दिन के वाद टट्टी का रंग स्वाभाविक बनने लगता है। उस समय २४ घंटे में ३–४ टट्टियाँ आती हैं।

नव-जात के मूत्र में खट्टी वदबू आती है। रंग फीका, पीला। दिन में १५ से २० वार पेशाव करता है, २४ घंटे में दो औंस। दूसरे २४ घंटों में २ से ३ औंस, तीसरे से छठे दिन में आठ औंस, और धीरे-धीरे मूत्र की मात्रा वढ़कर पन्द्रह-सोलह दिन में तेरह औंस तक पहुँच जाती है ।

२. नव-जात के रोग

नव-जात को कई रोग हो सकते हैं, उनका जानना भी आवश्यक है। मुख्य-मुख्य रोग हैं—प्राणरोध (Asphyxia), शिशु-अभिष्यंद (Ophthalmia neonatorum), शिशु-कामला (Jaundice), मलबंध (Constipation) तथा अतिसार (Diarrhoea)।

प्राणरोध—कभी-कभी जन्म के पश्चात् नव-जात के हृदय की धड़कन तो जारी होती है, परन्तु श्वास नहीं आता। यह प्राणरोध दो तरह का हो सकता है—श्वेत-प्राणरोध (Asphyxia white) तथा श्याम-प्राणरोध (Asphyxia blue)। श्वेत-प्राणरोध में नव-जात का रंग सफ़ेद पड़ जाता है, हृदय तथा नाल का स्पन्दन बहुत मंद होता है, मांस-पेशियों में सहज-क्रियाओं (Reflex actions) का अभाव रहता है। अधिकतर श्वेत की जगह श्याम-प्राणरोध पाया जाता है। इसमें मुख पर श्यामता होती है, हृदय का स्पंदन बहुत धीरे नहीं होता, सहज-क्रियाओं का अभाव नहीं होता। श्वेत-प्राणरोध श्याम की अपेक्षा खतरनाक होता है।

श्वेत-प्राणरोध में नव-जात को उल्टा लटका कर उसका मुख साफ़ करें, फिर सीधा कर उसे गले से नीचे-नीचे गरम पानी में रखें, छाती को ख़ूब मलें, थोड़ी-थोड़ी देर बाद छाती को दबावें, मुख भी साफ़ करते रहें। साँस आने लगे तो ठीक, नहीं तो पानी से बाहर निकाल कर कपड़े में लपेट कर कृत्रिम श्वास करावें। श्वास जब तक न आने लगे ऐसा ही करते रहें। कृत्रिम श्वास की विधि बर्ड महोदय ने यह बतलाई है

कि पहले नव-जात को अपने दोनों हाथों पर चित लिटायें, फिर एक हाथ नितम्ब तथा दूसरा कन्धों के नीचे रखें। दोनों हाथों से नव-जात को प्रसारित करने से श्वास तथा दोनों हाथों से नव-जात को इकट्ठा करने से प्रश्वास की क्रिया होगी। इस से श्वास-प्रश्वास जारी हो जाता है।

श्याम-प्राणरोध में नव-जात को पैरों से पकड़ कर उल्टा करें, और मुख में से श्लेष्मा निकालें। फिर नव-जात की पीठ तथा नितम्ब-प्रदेश को थपथपायें, छाती को मलें और शरीर पर ठंडा पानी छिड़कें। हर हालत में यह प्रयत्न करना चाहिये कि नव-जात की श्वास-प्रक्रिया जारी हो जाय।

नव-जात का चक्षु-रोग—कभी-कभी नव-जात की माता को गनोरिया होता है जिससे प्रसव के समय उस की आखों में योनि-स्राव द्वारा कृमि चले जाते हैं, और उसकी आँख के ख़राब होने का भय रहता है। जन्मते ही नव-जात की आँखों को कृमिहीन रुई से पोंछ डालना चाहिये और अगर माता को गनोरिया आदि का शक हो, तो नव-जात की आँखों में १ प्रति-शत शक्ति के कास्टिक-लोशन की दो बूंद डाल देनी चाहियें और उसकी आँखों को दो-दो घंटे बाद बोरिक लोशन से धोते रहना चाहिये। कभी-कभी नव-जात को अक्षि-शोथ हो जाता है। इसके लिये ४ ग्रेन वाली सिलवर नाइट्रेट की दो-दो बूंद आँख में डाल देनी चाहियें। आरगोल भी उत्तम दवा है, इस से आँखों में चरचराहट नहीं होती। लिंट पर बोरोसिक मर-हम लगाकर रुई रखकर पट्टी बाँध सकते है या पट्टी के स्थान पर कोलोडियम में भीगा वस्त्र भी इस्तेमाल कर सकते हैं।

नव-जात को कामला—ऐसा देखने में आया है कि कभी-कभी प्रसव के बाद नव-जात का शरीर पीला-सा पड़ने लगता है। कुछ दिन बाद यह स्वयं ही ठीक भी हो जाता है, अतः इसके विषय में विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिये। ज़रूरत जान पड़े तो ग्लिसरीन की पिचकारी देकर पेट साफ़ कर दें, और सोडियम फ़ास्फ़ेट दिन में २-३ बार २ से ३ ग्रेन की मात्रा में दें। रोग जाता रहेगा।

मल-बन्ध तथा मूत्र-रोध—नव-जात को मल-बन्ध प्रायः माता के दूध के कारण होता है। ऐसी अवस्था में माता को स्निग्ध भोजन देना चाहिये। ऐरंडी का तेल देने से भी आँतें ढीली हो जाती हैं। पेट पर मालिश करनी चाहिये और जरूरत समझें तो मलाशय से सिरिंज के द्वारा ग्लिसरीन चढ़ायें। इससे पेट साफ़ हो जायगा। जन्मते ही कई बच्चों को मूत्र नहीं उतरता। उन्हें गर्म तथा ठंडे पानी के क्रमशः छींटे देने चाहियें। होम्योपैथी के 'एकोनाइट ३०' की घंटे-घंटे बाद दो-तीन मात्रा देने से भी मूत्र आ जाता है।

अतिसार—अतिसार की अवस्था में माता का दूध बारह घंटे बंद रखें। अगर अंडा लेते हों तो दो-दो घंटे बाद एलब्यूमिन का पानी दें। एलब्यूमिन का पानी बनाने की विधि यह है कि अंडे की सफ़ेदी को तीन छटाँक पानी में खूब मिलाकर उसमें मीठा डाल कर छान लें। अतिसार में यह लाभ देता है। अधिक दस्त आते हों, तो ग्रे पाउडर दें, इस के बाद विस्मिथ सैलिसिलेट २ से ४ ग्रेन तथा डावर्स पाउडर की १/२ ग्रेन की पुड़िया दें।

१६

शिशु की देख-भाल

(CARE OF THE INFANT)

प्रत्येक वालक-वालिका को जीवन में किसी समय पिता-माता वनना है इसलिये शिशु के सम्वन्ध में अनेक वातों को हर व्यक्ति के लिये जान लेना आवश्यक है। हम यहाँ शिशु की देख-भाल के सम्वन्ध में उस के भार, दूध छुड़ाना, दाँत निकलना, वस्त्र, आदतें तथा पेट की मोटी-मोटी वीमारियों के विषय में कुछ लिखेंगे।

१. शिशु का भार लेना

शिशु का भार नियम-पूर्वक लेते रहने से उसके स्वास्थ्य के विषय में सतर्कता वनी रहती है। उत्पत्ति के दिन से ही उसके भार का एक चार्ट वना लेना चाहिये। स्वस्थ शिशु का जन्म के समय भार ६-७ पौंड होता है। पहले तीन दिन भार ८ औंस कम हो जाता है, और दसवें दिन यह कमी पूरी हो जाती है। पहले तीन दिन भार कम होने का कारण यह है कि प्रसव के पहले तीन दिन माता के दूध ही नहीं उतरता और शिशु को ग्लूकोज़ तथा पानी ही पिलाया जाता है, शिशु के पेट में से अफ़ीम-जैसा काला-काला पदार्थ जिसे मैकोनियम कहते हैं निकाल देना आवश्यक होता है, इस बीच वह पेशाव करता है और त्वचा से पसीना भी निकलता है—ऐसी

हालत में इन तीन दिनों में ८ औंस भार कम हो जाना स्वाभाविक है, ज़्यादा भारी शिशु का ८ औंस से भी अधिक कम हो सकता है, परन्तु जब से वह दूध लेने लगता है तब से कमी पूरी होनी शुरू हो जाती है और दसवें दिन उसका भार उनता ही हो जाता है जितना जन्म के दिन था। इसके बाद प्रति सप्ताह ६ औंस उस का वज़न बढ़ने लगता है, और पहले पाँच महीने लगातार ६ औंस प्रति सप्ताह बढ़ता जाता है। इन पाँच महीनों के बाद अगले तीन-चार महीने ४ औंस प्रति सप्ताह वृद्धि होती है। अगर जन्म के समय शिशु का भार ६ पौंड है, तो ५-६ महीने का होने पर उसका भार जन्म से दुगुना हो जाना चाहिये, अर्थात् १२ पौंड, और ९ महीने में वज़न १६ पौंड हो जाना चाहिये। अगर भार में वृद्धि ५-६ औंस प्रति सप्ताह न हो, तो माता के भोजन की छान-बीन करनी चाहिये, शिशु की आँतों का कुछ दोष न हो—यह सब देखना चाहिये।

२. दूध छुड़ाना

जब दाँत निकलने के दिन आने लगें, तब शिशु का माता का दूध छुड़ाने का समय आ पहुँचा—यह समझ लेना चाहिए। गर्मियों में दूध छुड़ाने के स्थान में सर्दियों में छुड़ाना ठीक रहता है क्योंकि गर्मियों में मक्खियाँ अधिक होने के कारण खुले दूध पर उनके बैठने की संभावना रहती है जिससे शिशु को अतिसार हो जाने का भय है। माता का दूध धीरे-धीरे छुड़ाना होता है, इसलिए बिल्कुल छुड़ाने में ३-४ मास लग जाते हैं। नौ मास की आयु से दूध छुड़ाने की प्रक्रिया का प्रारंभ हो जाना चाहिए। छुड़ाने का तरीका यह है कि २४ घंटे में जितनी बार माता

अपना दूध पिलाती है उनमें से कुछ बार न पिलाये और उसकी जगह बोतल का दूध पिलाये। इस प्रकार धीरे-धीरे करने से शिशु का पेट बिगड़ता नहीं है, अन्यथा एकदम बाहर का दूध पिलाने से उदर विकार हो जाता है। इसके अतिरिक्त एकदम अपना दूध बन्द करने से माता की छाती में दूध भरे रहने से दर्द भी हो जाता है। इन दोनों दृष्टियों को सामने रखकर क्रमशः दूध छुड़ाना ही माता तथा शिशु दोनों के लिए हितकर है। जब शिशु १५ पौंड का हो जाता है तब दिनभर में वह माता से ३५ औंस के लगभग दूध पी लेता है। इतना दूध हरेक माता नहीं दे सकती इसलिए भी शिशु को बाहर से भोजन देना आवश्यक हो जाता है। बाहर का भोजन देने के लिए गाय का दूध सर्वोत्तम है। कुछ अन्न, सब्ज़ियों तथा फलों का रस भी इस समय दिया जाना चाहिए। चम्मच से शिशु कम दूध पीता है इसलिए बोतल से पिलाना उत्तम है, परन्तु हर बार बोतल और रबड़ को गर्म, उबलते पानी से ख़ूब अच्छी तरह धो डालना चाहिए। माता का दूध छुड़ाने का क्रम सब अपना-अपना बना सकते हैं। हम यहाँ एक साधारण-सा दिग्दर्शन करा देते हैं :—

९ मास की आयु में शिशु को ५ बार दूध दिया जा रहा होता है—प्रातः ६ बजे, १० बजे, २ बजे, ६ बजे और १० बजे—चार-चार घंटे के बाद एक-एक बार दूध दिया जाता है। पहले-पहल जब माता का दूध बन्द करना हो, तो २ बजे के माता के दूध की जगह गाय का दूध दो। इस दूध को बनाने के लिए ५ औंस गाय का दूध और २ औंस उबला पानी मिला कर एक चम्मच मीठा डाल कर शिशु को पिला दो। यह क्रम एक सप्ताह तक

चलता रहे। उसके वाद दूसरे सप्ताह में एक बार की जगह दो बार वाहर का दूध दो। ६ बजे माता का, १० बजे गाय का, २ बजे माता का, ६ बजे गाय का, १० बजे माता का—इस प्रकार एक सप्ताह तक यह क्रम जारी रखो। तीसरे सप्ताह दो बार की जगह तीन बार वाहर का, और दो बार माता का दूध दो। ६ बजे माता का, १, २, ६ बजे गाय का, रात के १० बजे फिर माता का—इस प्रकार तीसरे सप्ताह का क्रम जारी रखो। चौथे सप्ताह दोपहर के २ वजे के भोजन में दूध के स्थान पर सब्ज़ी का रसा दो, वाकी क्रम वही जारी रखो; पाँचवें सप्ताह किसी एक बार के दूध के साथ कुछ रसा व सब्ज़ी आदि वढ़ा दो—इस प्रकार ३–४ मास में शिशु को धीरे-धीरे वाहर के भोजन पर ले आओ।

३. दाँत निकलना

अच्छे दाँतों के लिए माता को गर्भावस्था में पुष्टि-कारक भोजन लेना चाहिए। उसके भोजन में 'विटैमिन डी' तथा कैल-सियम की मात्रा होनी चाहिए। 'विटैमिन डी' के लिए दूध, मक्खन, मलाई, दही लेना चाहिए। कौड लिवर ऑयल तथा एडैक्सोलीन भी लेना चाहिए। कैलसिमय के लिए एक-डेढ़ सेर दूध पीना चाहिए। शिशु को भी एक मास का होने के वाद एडैक्सोलीन की ५ बूंद तथा कौड लिवर ऑयल देना चाहिये। सूर्य की धूप में शिशु को लिटाना चाहिए क्योंकि धूप के सम्पर्क से त्वचा में 'विटैमिन डी' का निर्माण होता है।

वच्चे के दाँत दो वार निकलते हैं—पहले दूध के दाँत कहलाते हैं, इनके टूटने के वाद स्थिर, पक्के दाँत निकलते हैं।

दूध के दाँत २० होते हैं, इनके बाद पक्के दाँत ३२ होते हैं। ये २० दाँत एक बारगी नहीं निकलते—६-७ मास की आयु से निकलना शुरू होते हैं, और अढ़ाई वर्ष की आयु तक निकलते रहते हैं। एक वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते आठ दाँत निकल आते हैं—चार ऊपर के, चार नीचे के। डेढ़ वर्ष की आयु में १२ दाँत, डेढ़ से दो वर्ष की आयु में १६ और दो से अढ़ाई वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते २० दाँत निकल आते हैं।

दाँत अन्तर देकर निकलते हैं। पहले नीचे के दो दाँत निकलते हैं, तो निकलने के बाद प्रकृति ने आराम देने के लिए अगले दाँत निकलने में व्यवधान डाल दिया है ताकि शिशु को लगातार कष्ट न उठाना पड़े। दाँत निकलते समय मसूड़े सूज जाते हैं, लार बहा करती है, बच्चा चिड़चिड़ा हो जाता है। अगर बच्चा अधिक चिड़चिड़ा हो जाय तो होम्योपैथी का 'कैमोमिला ३०' दिन में ३–४ बार देने से ठीक हो जाता है। इस समय शिशु को हरे-हरे दस्त भी आने लगते हैं। इन दस्तों में भी 'कैमोमिला ३०' अच्छा काम करता है।

४. शिशु के वस्त्र

शिशु के उत्पन्न होने से पहले ही उसके वस्त्र तय्यार रहने चाहिएँ। कम-से-कम चार कुर्ते, १२ नैपकिन, सिर ढकने के लिए टोपी, सर्दियों में स्वेटर, शाल, कम्बल, जुराब आदि सब तय्यार रखना चाहिए। कुर्ते ऐसे होने चाहिएँ जिनके कमर की तरफ़ बटन लगाये जायें, सिर से न पहना जाय, ऐसे जिन्हें आसानी से पहनाया-उतारा जा सके। टाँगों में पजामा भी पहनाया जा सकता है, परन्तु क्योंकि शुरू-शुरू में टट्टी पेशाब से कपड़े

ख़राब होते रहते हैं इसलिए नैपकिन इस्तेमाल करना आसान रहता है। बालक की टट्टी के स्थान पर थोड़ा ज़ैतून का तेल मला रहे तो टट्टी उसे चिपटती नहीं, आसानी से उसे पूंछा-धोया जा सकता है। नैपकिन के पेशाब-टट्टी से ख़राब होते ही उसे बदल देना चाहिए। इन रूमालों को धोना ही नहीं चाहिए अपितु धोकर दो-तीन दिन बाद उबलते पानी से साफ़ कर देना चाहिए।

५. शिशु की आदतें

शिशु को जन्म-दिन से ही जिस चीज़ की हम चाहें आदत डाल सकते हैं। अगर उसे ठीक नियत समय पर दूध दिया जाय, तो ठीक उसी समय उसे भूख लगेगी। शिशु जब भी रोता हो, तभी उसे दूध पिलाने लग जाना उसकी आदत बिगाड़ देना है। शिशु सदा भूख से ही नहीं रोता। कभी दर्द से, कभी पेशाब के कारण गीला हो जाने से, और कभी भूख से भी वह रोता है। चतुर माता शिशु के रुदन को सुनकर पहचान जाती है कि वह क्यों रो रहा है। शिशु के भोजन के जो निश्चित समय हों उनके बीच उसे कुछ नहीं देना चाहिए, नहीं तो रोने की भी उसकी आदत पड़ जाती है। इस प्रकार टट्टी-पेशाब के लिए चिलमची पर बैठना, पोतड़ों में ही टट्टी-पेशाब न कर देने की भी आदत डाली जा सकती है। जो माताएँ शिशु को चिलमची में टट्टी-पेशाब करने की आदत डाल देती हैं उनके शिशु पोतड़े बहुत कम ख़राब करते हैं, और वे बेकार की सिरदर्दी से बच जाती हैं। इसी प्रकार ठीक निश्चित समय पर टट्टी जाने की आदत डालनी चाहिए। कई शिशु हर समय दूध पिया करते हैं, और जब चाहें

टट्टी किया करते हैं। इसमें शिशु का इतना दोष नहीं जितना माता का दोष है। पहले तो शिशु २४ घंटे में ६–८ वार पेशाव तथा ४ वार टट्टी जाता है, परन्तु धीरे-धीरे इनकी संख्या कम होती जाती है, और आगे चलकर अगर उसे प्रातः-सायं दो वार टट्टी जाने की आदत डाल दी जाय, तो निश्चित समय पर टट्टी जाने की उसकी आदत पड़ जाती है। भोजन तथा मल-मूत्र त्याग की तरह सोने की भी आदत है। शुरु-शुरु में तो शिशु दूध पीने के समय को छोड़ कर प्रायः चौवीसों घंटे सोता रहता है। स्वस्थ शिशु दूध पीने के लिए जागता है, पीकर फिर झट-से सो जाता है। परन्तु कुछ वड़ा होने पर सोने की मात्रा कम हो जाती है। शुरु से ही शिशु को रात होते ही सोने की आदत डालनी चाहिए, ऐसी आदत न डाले कि दिन को सोता रहे और रात को जागने लगे। रात होते ही उसे बिस्तर में लिटा देना चाहिए और १२ घंटे उसे सोते रहने देना चाहिए। दिन में भी दोपहर को दो घंटे सोने की आदत डालनी चाहिए। कई वच्चे ५-६ साल की आयु का होने तक दोपहर को सोया करते हैं। इस आयु के वाद दिन को सोना ज़रूरी नहीं रहता। कई वच्चे झट-से सो जाते हैं, किसी तरह का भी शोर हो, पर्वा नहीं करते, कई स्नायु-प्रधान वच्चे किसी किस्म का शोर वर्दाश्त नहीं कर सकते। ऐसों को सुलाने के लिए घर में शान्ति रखना ज़रूरी हो जाता है।

६. पेट की मोटी-मोटी बीमारियां

मुख-पाक—मुख का पकना तीन तरह का हो सकता है। साधारण मुख-पाक में तो मुंह में छाले पड़ जाते हैं, तीव्र मुख-

पाक में मसूड़ों में शोथ आ जाती है, भयानक मुख-पाक में गालों तक शोथ फैल जाती है। साधारण छाले १ वर्ष से ५ वर्ष के बच्चों में पाये जाते हैं। इसमें मुख लाल, शोथ-युक्त हो जाता है। गले के अन्दर तक सफ़ेद रंग की फुंसियाँ दीखती हैं, ये फटकर व्रण का रूप धारण कर लेती हैं। शिशु पानी या स्तन नहीं पी सकता। एक अच्छी होती है, दूसरी निकल आती है। तीव्र मुख-शोथ दो वर्ष के बच्चों में पायी जाती है। मसूड़ों पर शोथ दिखाई देती है, उन पर हरी-सी परत जम जाती है जिसके हटाने से रुधिर बहने लगता है। मुख से दुर्गन्ध आती है। गले की ग्रन्थियाँ भी सूज जाती हैं। मुख से रक्त-मिश्रित लार बहती है। भयानक मुख-पाक का प्रारंभ धीरे-धीरे होता है। गालों पर शोथ होकर एक लाल, चमकदार दाग बन जाता है। इसका कारण अशुद्धता तथा स्वास्थ्य की कमी है। मुख-पाक किसी तरह का भी हो, योग्य चिकित्सक को दिखाकर इलाज कराना चाहिए क्योंकि ध्यान न देने से यह भयंकर रूप भी धारण कर सकता है।

वमन—कई शिशु दूध लेते ही उल्टी कर देते हैं, दूध सब निकल जाता है। इसका एक कारण पेट का अधिक भर जाना है। ऐसी अवस्था में दूध कम कर देना चाहिए और जितनी मात्रा वह पीता है उसे एक बार न पिला कर कई बार में पिलाना चाहिए। दूध पिलाने के बाद शिशु को माता अपने कन्धे से लगा कर पीठ की तरफ़ से गले को धीरे-धीरे थपथपाये। दूध में थोड़ा-सा सोडा डाल कर पिलाये। दाँत निकलते समय भी प्रायः शिशु वमन कर देता है। होम्योपैथी का 'कैमोमिला ३०' इस

अवस्था में अच्छा काम करता है। अगर वमन काबू में न आये तो योग्य चिकित्सक की सलाह ले।

पेट में हवा—बार-बार दूध पिलाने से शिशु को अपच हो जाता है, और पेट में हवा भर जाती है। पानी में थोड़ा-सा सोडा-बाई-कार्ब घोल कर पिलाने से पेट की हवा सर जाती है। ऐसी अवस्था में शिशु के पेट को गर्म कपड़े से सेंकने से भी हवा निकल जाती है। पेट की हवा के बन्द हो जाने से ही उदर-शूल हो जाता है अतः पेट में हवा न रुके इसका प्रबन्ध करना चाहिए।

मल-बन्ध—शिशु को कभी-कभी दूध पर्याप्त न मिलने से कब्ज़ हो जाती है। ऐसी हालत में दूध की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। एक दूध तथा दूसरे के बीच में उबाल कर ठंडा किया हुआ पानी देना चाहिए। पेट को धीरे-धीरे, आराम से मलना चाहिए। दाईं तरफ़ नीचे की ओर से मलना शुरू कर ऊपर की तरफ़ हाथ लाओ, फिर पेट के आर-पार मलते हुए बाईं तरफ़ हाथ ले जाकर नीचे की तरफ़ मलते हुए हाथ ले जाओ। इससे लाभ होगा। ज़रूरत पड़े तो बादाम जितना साबुन का टुकड़ा काट कर बत्ती-सी बनाकर मल-द्वार में चढ़ा देने से टट्टी आ जायगी।

अतिसार—दूध की मात्रा अधिक चली जाने से अतिसार हो जाता है, दस्त आने लगते हैं। प्रायः हरे-हरे दस्त आते हैं। दूध की मात्रा कम कर दो, दूध की जगह पानी देना शुरू कर दो। हरे रंग के दस्तों का कारण बोतल या स्तनों की अस्वच्छता भी होती है, अतः माता को सफ़ाई की तरफ़ विशेष ध्यान देना चाहिए। एरंड का तेल एक-दो चम्मच देने से आँतों में गड़बड़ करनेवाला पदार्थ निकल जाता है और दस्त बन्द हो जाते हैं। बिस्मथ सैलिसिलेट का प्रयोग लाभप्रद है, परन्तु औषध का प्रयोग स्वयं न करके चिकित्सक के परामर्श से ही करना चाहिए

१७

बाल-मृत्यु का प्रश्न
(PROBLEM OF INFANT MORTALITY)

१. 'बाल-मृत्यु-दर' की व्याख्या

किसी वर्ष में जितने वच्चे पैदा होते हैं, उनमें से प्रत्येक हज़ार के पीछे जितने बच्चे एक वर्ष की आयु पूर्ण होने से पहले ही मर जाते हैं, उस संख्या को उस वर्ष की प्रति हज़ार 'बाल-मृत्यु-दर' (Infantile death-rate) कहते हैं। 'वाल-मृत्यु-दर' निकालने के लिए किसी साल के १ वर्ष से नीचे के मृत-शिशुओं की संख्या को एक हज़ार से गुणा कर के उसी साल पैदा हुए शिशुओं की संख्या से भाग दे दिया जाता है। उदाहरणार्थ, किसी साल १ वर्ष से कम आयु के ७५ वच्चे मरे और उसी साल ६०० वच्चे पैदा हुए, तो उस साल की 'वाल-मृत्यु-संख्या' $\frac{७५ \times १०००}{६००} = १२५$ होगी। इस १२५ का अर्थ होगा कि ६०० के पीछे ७५ मरे, तो १००० के पीछे १२५ मरे। 'वाल-मृत्यु-दर' (Infant mortality rate) को संक्षेप में वा० मृ० द० (I. M. R.) कहते हैं। १९३१ की जन-गणना के अनुसार भारत की 'वाल-मृत्यु-दर' १००० के पीछे १७६ थी, १९४१ में यह घट कर १६४ हो गई और १९५१ में और घटकर १५२ हो गई। वैसे तो पैदा होना तथा मरना—इन दोनों को अंकित कराने का नियम है, परन्तु अपने देश में कई लोग कमेटी

में इस प्रकार का दर्ज नहीं भी कराते। जो कराते हैं उन्हींके आधार पर ये आँकड़े दिये गये हैं। फिर भी ऐसा तो प्रतीत होता है कि स्वास्थ्य-रक्षा आदि के नियमों के विस्तार से 'बाल-मृत्यु-दर' पहले से कम होती जा रही है। १९५१ की जन-संख्या-गणना में कहा गया है कि भारत में १००० के पीछे अगर २७ मौतें होती हैं, तो इन २७ में से ११ मौतें तो ५ वर्ष से कम बच्चों की होती हैं—अर्थात् आधे के लगभग बच्चों की होती हैं, और इन ११ में से भी ७ मौतें १ वर्ष से कम के बच्चों की होती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि १००० व्यक्तियों के पीछे जो २७ मौतें हुईं उनमें से ७ अर्थात् एक-चौथाई १ वर्ष से कम आयु के शिशुओं की हुईं। यह अवस्था अपने देश के लिए कितनी चिन्तनीय अवस्था है। अगर इन शिशुओं की ठीक-से देख-भाल की जा सके, और इनकी मृत्यु को रोका जा सके, तो कितना विनाश रोका जा सकता है।

२. बाल-मृत्यु रोकने के उपाय

बाल-मृत्यु के अनेक कारण हैं जिनकी तरफ़ ध्यान दिया जाय, तो इस महा-विनाश को रोका जा सकता है। अनेक कारण ऐसे हैं जो अन्य देशों में नहीं हैं, अपने ही देश में हैं, उनकी तरफ़ अपने देशवासियों को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। संक्षेप में वे कारण निम्न हैं :—

(क) **बाल-विवाह**—यद्यपि बाल-विवाह को रोकने के लिए शारदा-कानून बना हुआ है, तो भी १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत में ९२ लाख लड़के-लड़कियों का बाल-विवाह हुआ है। यह ठीक है कि बाल-विवाह दिनों-दिन कम हो रहा है, तो भी गाँवों में अभी बाल-विवाह की प्रथा जड़ जमाये हुए है।

छोटी आयु में विवाह करने से बच्चों की मृत्यु-संख्या बनी रहती है, अतः बाल-मृत्यु को रोकने के लिए बाल-विवाह का रोकना आवश्यक है।

(ख) **अयोग्य-विवाह**—जो लोग विवाह के योग्य नहीं होते, रोगी, कमज़ोर होते हैं, ऐसों के बच्चे चिर-जीवी नहीं हो सकते। ऐसे व्यक्तियों को सन्तान उत्पन्न करने से रोकने के नियम बनने चाहिएँ ताकि रोगी-सन्तान उत्पन्न होकर देश में अपंग व्यक्तियों तथा बाल-मृत्यु-दर को वे न बढ़ावें।

(ग) **दहेज की प्रथा**—अपने देश में लड़की के माता-पिता को दहेज देना पड़ता है। इस प्रथा के अनेक भयंकर परिणाम हुए हैं। जनता में इसके प्रति क्षोभ भी है। परन्तु इस प्रथा का परिणाम यह होता है कि माता-पिता लड़की होना पसंद नहीं करते। लड़की की देख-भाल नहीं करते इसलिए लड़कियाँ मर जाती हैं, कोई समय था जब लड़कियों को मार भी दिया जाता था। अब दृष्टिकोण बदलता जा रहा है। लड़कियों को माता-पिता की जायदाद में हिस्सा देने के कानून बन रहे हैं। जबतक लड़की एक ख़र्च का मद समझी जाती रहेगी तबतक लड़कियों की मृत्यु-संख्या नहीं घटेगी।

(घ) **माता का स्वास्थ्य**—माता का स्वस्थ न होना भी बाल-मृत्यु-दर बढ़ने का बड़ा भारी कारण है। अगर माता को ठीक-से खाने को नहीं मिलता, उसकी देख-रेख ठीक-से नहीं होती, उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं, तो उसकी सन्तान कैसे बच सकती है। बाल-मृत्यु-दर घटाने के लिए प्रसूता की तरफ़ विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है।

(ङ) **सन्तानों की संख्या**—पहली सन्तान में जीने-मरने का प्रश्न उठ खड़ा होता है, वह इसलिए क्योंकि वह पहला अनुभव होता है, उसके बाद चार सन्तान तक तो माता बड़े आराम से इस बोझ को बर्दाश्त किये चलती है, परन्तु चौथी सन्तान के बाद उसके शरीर में सामर्थ्य बहुत कम रह जाता है। बार-बार सन्तान होने के बोझ को बर्दाश्त करना सब के लिए संभव नहीं है, इसलिए या माता चल बसती है, या सन्तान चल देती है। इस दृष्टि से सब संभव उपायों से यह प्रयत्न होना चाहिए कि एक से दूसरी सन्तान में कम-से-कम अढ़ाई वर्ष का अन्तर हो। इससे कम अन्तर में सन्तान होने से बाल-मृत्यु-दर के बढ़ने की ही संभावना है।

(च) **स्वास्थ्य-संबंधी देख-रेख**—हमारे यहाँ जब तक प्रसव का समय नहीं आ जाता तब तक गर्भिणी की देख-रेख का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। समझा जाता है कि जो-कुछ करना-धरना है वह प्रसव हो जाने के बाद करना है। यह अत्यन्त भ्रम-मूलक धारणा है। गर्भावस्था के समय जितनी देख-भाल कर ली जायगी उतना ही प्रसव आसान होगा और माता तथा बच्चे के बच जाने की संभावना होगी। गर्भावस्था में गर्भिणी को किसी योग्य चिकित्सक की देख-रेख में रहना चाहिए—ऐसा न करने से भी—अपने देश में बाल-मृत्यु-दर अन्य देशों से बढ़ी हुई है। अन्य देशों के लोग गर्भावस्था में डाक्टर की देख-रेख में रहते हैं।

(छ) **आर्थिक-कारण**—माता-पिता की आर्थिक दशा का बाल-मृत्यु-दर पर भारी प्रभाव पड़ता है। अगर वे गरीब हैं,

अच्छे, स्वास्थ्य-प्रद मकान में नहीं रह सकते, ठीक समय पर दवा-दारु नहीं कर सकते, पुष्टिकर भोजन माता नहीं ले सकती, तो बच्चे का मर जाना अस्वाभाविक नहीं है। ग़रीबी के साथ-साथ बाल-मृत्यु-दर तथा प्रसूता-मृत्यु-दर बढ़ती जाती है।

(ज) **अशिक्षा**—आजकल कमेटियों की तरफ़ से स्वास्थ्य-केन्द्र खुले हुए हैं जिनमें दाई आदि रखी जाती हैं। जगह-जगह ज़च्चा-बच्चा हस्पताल भी खुले हुए हैं। शिक्षित व्यक्ति इन सुविधाओं का लाभ उठा लेते हैं, अशिक्षित नहीं उठा पाते। इस कारण अशिक्षा भी बाल-मृत्यु-दर का एक कारण है।

(झ) **अन्य कारण**—उक्त कारणों के अतिरिक्त बाल-मृत्यु के अन्य भी कई कारण हैं जिनकी तरफ़ ध्यान देना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, प्रसव के समय शिशु को कोई चोट लग सकती है, गर्भावस्था में शिशु को पूरा भोजन नहीं मिला होता, उत्पन्न होने के बाद फेफड़ों की, पेट की, निमोनिया, टाइफ़ायड आदि अनेक बीमारियाँ हो सकती हैं, दस्त लग सकते हैं—इन सब का प्रतिकार डाक्टर की सहायता से करना चाहिए।

शिक्षक को चाहिए कि अपने शहर के पास के किसी 'बाल-कल्याण-केन्द्र' (Child Welfare Centre) पर विद्यार्थियों को ले जाकर 'बाल-कल्याण' के क्रियात्मक रूप का अनुभव कराये ताकि वे इस समस्या की गहराई को समझ सकें।

१८

बाल-कल्याण की वर्तमान योजनाएँ

(MODERN MOVEMENTS OF CHILD-WELFARE)

१. उद्देश्य तथा उपाय

मानव-समाज के कल्याण का बीज बाल-कल्याण में निहित है। वर्तमान-युग में हम सबका ध्यान बाल-कल्याण की तरफ़ दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। बाल-कल्याण-योजनाओं के मुख्य तौर पर दो उद्देश्य कहे जा सकते हैं :—

(क) ऐसे उपायों का अवलम्बन करना जिनसे माता तथा शिशु का जीवन संकट में न पड़े।

(ख) साथ ही ऐसे उपायों का अवलम्बन करना जिनसे माता तथा शिशु संकट से ही न बचें अपितु उन दोनों का स्वास्थ्य दिनों-दिन उन्नति करे ताकि समग्र मनुष्य-जाति उन्नति कर सके।

इन दो उद्देश्यों को सामने रख कर जितनी भी बाल-कल्याण-योजनाएँ बन रही हैं उनको निम्न कार्य अवश्य करने होते हैं :—

(क) बाल-कल्याण-योजनाओं में माता को इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है जिससे वह अपने स्वास्थ्य का ध्यान रख सके, शिशु के तथा सारे परिवार के स्वास्थ्य का ध्यान रख सके।

माता को स्वास्थ्य-संबंधी बातों की शिक्षा देना बाल-कल्याण योजनाओं का आधार-भूत कार्य है।

(ख) बाल-कल्याण-योजनाओं का दूसरा रूप यह है कि माता तथा शिशु के संभव रोगों की रोग का आक्रमण होने से पहले रोक-थाम कर ली जाय, और टीके आदि के ज़रिये बीमारी के प्रति प्रतिरोध-शक्ति उत्पन्न कर दी जाए ताकि बीमारी आ ही न सके।

(ग) बाल-कल्याण-योजनाओं का तीसरा काम यह है कि माता तथा शिशु के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में वे नई-नई खोज करने का प्रयत्न करती हैं। किस औषध का प्रयोग किस रोग में करना चाहिये, माता तथा शिशु की आर्थिक-समस्याओं को कैसे हल करना चाहिये, उन्हें अपनी-अपनी परिस्थिति में स्वास्थ्य-सम्बन्धी किन-किन नियमों का पालन करना चाहिये, उनकी मनोवैज्ञानिक-समस्याएँ क्या हैं, उनका क्या हल है—इस सब की खोज करना भी बाल-कल्याण-योजनाओं का काम है।

जो बाल-कल्याण-योजना पहले दो उद्देश्यों को सामने रखकर अगले तीन उपायों का अवलम्बन कर रही है वह अपने उद्देश्य में सफल है, जो नहीं कर रही वह अपने उद्देश्य में उतनी ही असफल है।

२. बाल-कल्याण-योजनाओं का संगठन

बाल-कल्याण-योजनाओं का संगठन देश में भिन्न-भिन्न स्तरों पर है। कुछ योजनाएं हरेक शहर के धनी-मानी सज्जनों की तरफ़ से चलती हैं, कुछ म्युनिसिपैलिटियों की तरफ़ से चलती हैं, कुछ योजनाएं प्रान्तीय-सरकार द्वारा संचालित होती

हैं, कुछ संयुक्त-राष्ट्र-संघ की तरफ़से चल रही हैं।

(क) **स्थानिक-योजनाएँ**—बाल-कल्याण की स्थानिक-योजनाओं के तीन भाग किये जा सकते हैं। एक तो वे योजनाएं जो धनी-मानी सज्जनों की तरफ़ से हस्पतालों के रूप में चल रही हैं। इन हस्पतालों में माता तथा शिशु की मुफ्त परिचर्या होती है। दूसरी वे योजनाएं जो भिन्न-भिन्न डाक्टर व्यवसाय के तौर पर चलाते हैं। बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े शहरों में 'प्रसूति-गृह' बने हुए हैं जिनमें प्रसूति का, माता तथा शिशु की देख-रेख का पूरा प्रबन्ध होता है। इन प्रसूति-गृहों में १००-१५० रुपया लेकर सारी ज़िम्मेदारी डाक्टर अपने ऊपर ले लेता है। तीसरी योजनाएं वे हैं जो भिन्न-भिन्न शहरों की म्युनिसिपैलिटियों ने अपने-अपने शहरों में केन्द्र खोलकर चला रखी हैं। इनमें दाई, डाक्टरनी आदि का सारा खर्च म्युनिसिपैलिटी उठाती है।

(ख) **प्रान्तीय योजनाएँ**—ये योजनाएँ प्रान्त की सरकारों के पब्लिक हैल्थ डिपार्टमैंट की तरफ़ से चलती हैं। किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में प्रान्त के पब्लिक हेल्थ डिपार्टमैंट की तरफ़ से स्थानीय हस्पतालों को इस उद्देश्य से सहायता दी जाती है कि वे जच्चा-बच्चा की देख-रेख करें और इस कार्य में प्रान्त की सरकार का हाथ बटाएं।

(ग) **रेड-क्रौस-सोसाइटी**—इंडियन रेड क्रौस सोसाइटी एक ऐसी संस्था है जो जच्चा-बच्चा की देख-रेख का काम विशेष तौर से कर रही है। इसकी शाखाएं देश में जहाँ-तहाँ काम कर रही हैं और इनका बाल-कल्याण-सम्बन्धी सेवा-कार्य

प्रशंसनीय है। निजी तौर पर कार्य करने वालों में ये आदर्श हैं।

(घ) **संयुक्त-राष्ट्र-संघ**——संयुक्त-राष्ट्र-संघ विश्व-व्यापी कार्य करने वाली एक महान् संस्था है। इसके अनेक कार्य हैं जिनमें राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी तरह के कार्य आ जाते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए इसने एक-एक शाखा खोल रखी है, जो संयुक्त-राष्ट्र-संघ के आधीन उस कार्य को करती है। इसकी अनेक शाखाओं में से एक शाखा मातृत्व तथा बाल-कल्याण के लिये भी है जो संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अन्तर्गत सभी देशों को उपयुक्त सहायता देती रहती है।

योजना चाहे स्थानिक हो, म्यूनिसिपैलिटी की हो, प्रान्तीय हो, या अन्तर्राष्ट्रीय हो, प्राइवेट हो, या सरकारी हो, उसके अन्दर निम्न तीन प्रबन्धों का होना लाज़मी है:—

३. योजना के अन्तर्गत क्या-क्या होना चाहिये ?

(क) प्रसव-पूर्व-प्रबन्ध (Pre-natal management),

(ख) प्रसवावस्था-प्रबन्ध (Intra-natal management),

(ग) प्रसव-पश्चात्-प्रबन्ध (Post-natal management).

प्रसव-पूर्व-प्रबन्ध——प्राइवेट या सरकारी जिस योजना में भी हम लाभ उठाना चाहें उसमें यह प्रबन्ध होना आवश्यक है कि 'स्वास्थ्य-दर्शक' (Health visitor) गर्भवती-स्त्री की प्रसव के पूर्व पूरी-पूरी देखभाल करे, उसे हर प्रकार का परामर्श दे ताकि जब प्रसव का समय निकट आ जाये, तब किसी प्रकार के अचानक संकट का सामना न करना पड़े।

अगर किसी को उपदंश आदि का रोग है, तो शुरू से ही इस बात का प्रबन्ध करना पड़ेगा कि शिशु को इस रोग से बचाया जाय। 'स्वास्थ्य-दर्शक' का काम माता को प्रसव-संबंधी हर प्रकार की जानकारी देना है। हस्पतालों में इस प्रकार का प्रबन्ध होना चाहिए ताकि अगर कोई गर्भवती-स्त्री बिल्कुल डाक्टर की देख-रेख में ही रहना चाहे, या किसी को रखने की आवश्यकता हो, तो वह रह सके और उसे रखा जा सके।

प्रसवावस्था-प्रबन्ध—प्राइवेट या सरकारी योजनाएँ ऐसी होनी चाहियें जिनसे प्रसवावस्था के समय हर स्त्री लाभ उठा सके। जो स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति के लिये प्राइवेट या सरकारी हस्पताल में भर्ती होना चाहें उनके लिए हर प्रकार की सुविधा होनी ही चाहिये, परन्तु जो स्त्रियाँ हस्पताल न जाना चाहें, घर में प्रसव कराना ही सुविधाजनक समझें, उनके लिये भी सरकारी डाक्टरनियों की व्यवस्था होनी चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर यातायात के साधनों की व्यवस्था करना भी सरकार का काम है—ऐसा न हो कि ज़च्चा कष्ट के मारे चिल्ला रही है, और डाक्टरनी को घर पर लाने का कोई साधन नहीं है। सरकारी प्रबन्ध ऐसा होना चाहिये जिससे ग़रीब-से-ग़रीब आदमी भी लाभ उठा सके।

प्रसव-पश्चात्-प्रबन्ध—प्रसव हो चुकने तक ही बाल-कल्याण की योजना समाप्त नहीं हो जाती। प्रसूति तो माता तथा शिशु के जीवन की प्रथम घटना है, इसके बाद दोनों के अनेक कष्टों का सिलसिला आरम्भ हो जाता है। कहीं माता को प्रसूति-ज्वर, कहीं शिशु को मुंह आ जाना, कहीं दस्त—

इन सब की रोक-थाम के लिये 'स्वास्थ्य-दर्शक' की हर समय ही सहायता अपेक्षित है। जो लोग पैसा ख़र्च करके डाक्टर-डाक्टरनी की देख-रेख हासिल कर सकते हैं, उन्हें पैसा ख़र्च करके, और जो इस प्रकार नहीं कर सकते उन्हें ख़ैराती, म्युनिसिपैलिटी के, रैड क्रौस के, या अन्य सरकारी बाल-कल्याण-केन्द्रों के कार्यकर्ताओं से सहायता प्राप्त करनी चाहिये। इन केन्द्रों में काम करने वाले 'स्वास्थ्य-दर्शक' रोगियों को पहले प्रति सप्ताह, फिर प्रति मास देखते रहें, तो रोगी अनेक कष्टों से बच सकते हैं। 'स्वास्थ्य-दर्शकों' का कर्तव्य है कि वे बच्चे को दूध पिलाना, दूध छुड़ाना, तोल का रिकार्ड रखना, कब्ज़, अतिसार आदि का इलाज कर लेना आदि की माता को शिक्षा देती रहें।

४. 'स्वास्थ्य-दर्शक' का कर्तव्य

ऊपर हमने जो-कुछ कहा उससे यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि 'बाल-कल्याण-योजना' की जान 'स्वास्थ्य-दर्शक' (Health Visitor) है। स्वास्थ्य-विभाग की तरफ़ से यह नियम होना चाहिए कि जो स्त्री गर्भवती है, वह अपना नाम दर्ज कराये। 'स्वास्थ्य-दर्शक' को विभाग की तरफ़ से सूचना मिलनी चाहिए कि अमुक स्त्री गर्भवती है। इस सूचना के मिलने पर प्रसव से पूर्व गर्भवती की कम-से-कम तीन परीक्षाएँ तो 'स्वास्थ्य-दर्शक' को अवश्य करनी चाहिएँ। वे तीन निम्न हैं :—

(क) **प्रथम-परीक्षा**—पहली परीक्षा गर्भवती स्त्री के अंग-प्रत्यंग का ऐसा पूर्ण निरीक्षण है जिससे यह निश्चय किया जा सके कि वह आगामी आने वाले बोझ को बर्दाश्त कर सकेगी या नहीं। यह परीक्षा गर्भ ठहरने के प्रारंभिक दिनों में ही की जानी

चाहिए। इस प्रथम-परीक्षा में यह जान लेना आवश्यक है कि गर्भवती स्त्री सिफ़लिस, गनोरिया, टी० बी०, रक्तहीनता आदि किसी रोग से पीड़ित तो नहीं है। इस प्रकार उसकी सर्वाङ्ग परीक्षा के अनन्तर उसके पथ्यापथ्य का अथवा अन्य किसी प्रकार का कार्य-क्रम निर्धारण करना हो, तो वह इसी समय निश्चित कर देना चाहिए।

(ख) **द्वितीय-परीक्षा**—यह गर्भ के ३२ से ३६ वें सप्ताह में होनी चाहिए क्योंकि इस समय गर्भ में भ्रूण की स्थिति का पता चल जाता है, और अगर उसकी स्थिति उल्टी-सीधी हो, तो उसका इस समय कुछ इलाज सोचा जा सकता है।

(ग) **तृतीय-परीक्षा**—यह परीक्षा गर्भ के ३८ या ३९ में सप्ताह में की जाती है। इस समय पता लगाना चाहिए कि भ्रूण का सिर वहुत वड़ा तो नहीं, आसानी से निकल आयेगा या अन्य कोई उपाय करना पड़ेगा। ३८ से ४०वें सप्ताह में तो गर्भवती स्त्री की परीक्षा बार-बार करना आवश्यक है क्योंकि सवसे ज़्यादा ख़तरे का समय यही है।

'स्वास्थ्य-दर्शक' का कर्तव्य है कि गर्भवती स्त्री की प्रत्येक परीक्षा में उसके सामान्य स्वास्थ्य की परीक्षा भी करे, यह भी देखे कि उसका रहन-सहन कैसा है, और प्रसव के सुविधापूर्वक होने में जो भी निर्देश दे सके अवश्य दे। 'स्वास्थ्य-दर्शक' को चाहिए कि गर्भिणी के मूत्र की परीक्षा करे, उसके रक्त-चाप को देखे, उसके भार का एक तोल-चक्र वनाये और प्रति मास उसमें जो-जो परिवर्तन आ रहे हों सब को लिखे। इस सम्पूर्ण परीक्षा के वीच अगर गर्भिणी की किसी प्रकार की चिकित्सा की

आवश्यकता जान पड़े, तो वह भी अवश्य करे, भोजन में सुधार की आवश्यकता हो, तो वह सुधार भी करे—ज़्यादा खाना, कम खाना—सब बातों पर ध्यान रखे।

प्रसव से पूर्व गर्भवती स्त्री की तीन परीक्षाओं तथा अन्तिम दिनों में लगातार परीक्षा के अतिरिक्त, जब सन्तान उत्पन्न हो जाय, तब भी 'स्वास्थ्य-दर्शक' का काम समाप्त नहीं होता। उस समय भी उसका कर्तव्य है कि वह माता तथा बच्चे की देख-रेख रखे और निम्न बातों की तरफ़ माता का ध्यान आकर्षित करती रहे—

(क) माता अथवा बच्चे को कोई रोग तो नहीं हो रहा,
(ख) बच्चा स्तन-पान ठीक-से कर रहा है या नहीं,
(ग) माता के दूध से अतिरिक्त दूध की आवश्यकता तो नहीं,
(घ) दूध पीना हटाने का उपाय माता को बताये,
(ङ) टीका लगवाना हो तो उसका प्रबन्ध करे,
(च) बच्चे के कपड़ों, स्नान आदि की ठीक व्यवस्था है या नहीं,
(छ) दाँतों के उपद्रवों को रोकने की शिक्षा दे,
(ज) बच्चे की आदतों को कैसे ढालें—इसकी शिक्षा दे,
(झ) घरेलू झगड़ों को निपटाने में सहायता दे,
(ञ) घरवालों को महसूस हो कि 'स्वास्थ्य-दर्शक' उनके घर का अंग है।

१९

बालकों के विकास का अध्ययन

(STUDY OF CHILDREN'S DEVELOPMENT)

बालकों के विकास का तीन दृष्टियों से अध्ययन किया जा सकता है—शारीरिक-विकास की दृष्टि, मानसिक-विकास की दृष्टि तथा चरित्र-संबंधी विकास की दृष्टि। हम इन तीनों दृष्टियों से क्रमशः विचार करेंगे।

१. शारीरिक विकास

शिशु प्रथम वर्ष में १२ से १४ पौण्ड तक बढ़ता है, द्वितीय वर्ष में ६ से ८ पौंड तक, तृतीय वर्ष में ५ पौंड, चतुर्थ वर्ष में ४ पौंड। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों आयु में वह बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों भार की वृद्धि अनुपाततः कम होती जाती है। प्रथम वर्ष में सबसे ज़्यादा, फिर कुछ कम, उसके बाद और कम—इस प्रकार भार का अनुपात चलता है। भार कुछ अंश तक माता-पिता के डील-डौल पर भी चलता है। पतले-दुबले माता-पिता की सन्तान का भार उस तेज़ी से नहीं बढ़ता जितनी तेज़ी से मोटे-ताज़े माता-पिता की सन्तान का भार बढ़ता है, फिर भी भार का क्रमिक बढ़ना स्वास्थ्य का चिह्न है।

शारीरिक-विकास की दृष्टि से शिशु का शरीर भरा हुआ होना चाहिए, झुर्रियाँ कहीं नहीं दीखनी चाहिएँ। अगर शिशु का भार अपनी आयु के अनुकूल नहीं है, कम है, तो शरीर में

भराव नहीं होगा, कहीं-कहीं झुर्रियाँ-सी पड़ जायँगी। इसका यह अभिप्राय है कि उसे पर्याप्त भोजन नहीं मिल रहा, मिल रहा है, तो वह शरीर को लग नहीं रहा। शिशु की मांस-पेशियाँ मज़बूत होनी चाहिएँ, ढिल-मिल नहीं, ढिल-मिलपन कमज़ोरी का सूचक है। बहुत थलथलपना भी ठीक नहीं, शरीर सुडौल होना चाहिए, प्रत्येक अंग क्रियाशील होना चाहिए। हर समय रोगी रहने वाले बच्चे का शारीरिक-विकास ठीक-से नहीं हो पाता। जिन बच्चों में कैलसियम की कमी होती है उनकी हड्डियाँ कमज़ोर होती हैं, दाँत देर से निकलते हैं, चलते भी वे देर से हैं, अगर जल्दी चलना शुरू कर दें, तो टाँगों की हड्डियाँ टेढ़ी हो जाती हैं, बीमार पड़ने पर वे स्वास्थ्य-लाभ भी देर से करते हैं। कई बच्चों के टाँसल बढ़े हुए होते हैं। ऐसे बच्चों को हर समय गले की शिकायत रहती है, बुख़ार हो जाता है, और टाँसल के कारण उनकी बढ़ती भी रुक जाती है। नाक का रास्ता जहाँ गले में खुलता है वहाँ गले के पीछे कई बालकों के छोटे-छोटे दाने हो जाते हैं, इन्हें 'ऐडेनॉयड' कहते हैं। टाँसल और ऐडेनॉयड भाई-बहन हैं, प्रायः दोनों एक-साथ पाये जाते हैं। ऐडेनॉयड के बढ़ जाने से नाक का रास्ता रुक जाता है और बालक बहुधा मुख से साँस लिया करता है। कई बच्चों के कान का मार्ग रुक जाता है, और वे बहरे हो जाते हैं। इन सब शिकायतों से बालक का शारीरिक-विकास नहीं हो पाता और वह मूढ़-सा जान पड़ता है। बालक का शारीरिक-विकास ठीक-से हो इसलिए उक्त सब शिकायतों की तरफ़ माता-पिता को ध्यान देना चाहिए।

उत्पत्ति के समय शिशु की लम्बाई १९ इंच के लगभग होती

है। पहले छः महीने वह ४–५ इंच बढ़ जाता है, अगले छः महीने ३–४ इंच बढ़ता है। दूसरे वर्ष बच्चे की लम्बाई ३२ इंच, चौथे वर्ष ३८.५ इंच, पाँचवें वर्ष ४१ इंच, छठे वर्ष ४३.५ इंच, सातवें वर्ष ४६ इंच, आठवें वर्ष ४८ इंच, नौवें वर्ष ५० इंच और १०वें वर्ष ५२ इंच हो जाती है।

२. मानसिक-विकास

उत्पत्ति के समय का प्रथम सप्ताह—शिशु जब जन्म लेता है तब कुछ मौलिक बातें उसमें पायी जाती हैं। उसे भूख-प्यास लगती है, तापमान में बहुत अधिक भेद हो तो उसे अनुभव करता है, अधिक सर्दी में काँपने लगता है, अधिक गर्मी में व्याकुल होने लगता है, दर्द को महसूस करता है, चिल्ला सकता है, कोई चीज़ उँगलियों की पकड़ में आ जाय तो पकड़े रखता है, चमक तथा ज़ोर के शब्द को पसन्द नहीं करता।

द्वितीय सप्ताह—जन्म लेने के दूसरे सप्ताह रोशनी की तरफ़ आँख लगाता और अगर रोशनी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाय तो उसका आँखों से अनुगमन करता है।

द्वितीय मास—दूसरे मास में वह भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ़ ले जाये जाने पर उनका आँखों से पीछा करता है, गाना गाया जाय तो उसे ध्यान देकर सुनता है, माता को पहचानने लगता है, उसे देखकर प्रसन्नता प्रकट करता है, कभी-कभी मुस्कराता है।

चतुर्थ मास—वस्तुओं को ध्यान से देखने लगता है, मुस्कराता है, क्रोध प्रकट करता है, चीज़ों को पकड़ता है।

पाँचवाँ मास—चीज़ों को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाने

लगता है, दूरी का ज्ञान उसे होने लगता है, माता को अच्छी तरह पहचानने लगता है।

छठा मास—खिलौनों को पहचानने लगता है, सहारा देने पर बैठने लगता है, चीज़ों को पकड़ कर मुंह की तरफ़ ले जाता है, मुंह से भिन्न-भिन्न तरह की आवाज़ें निकालने में मज़ा लेता है, कुछ-कुछ इशारों की बातें समझने लगता है।

नौवाँ मास—बिना सहायता के बैठने लगता है, रिड़ने लगता है।

प्रथम वर्ष—खड़ा होने लगता है, चलने का प्रयत्न करता है, छोटे-छोटे शब्दों का उच्चारण करने लगता है—बा, मा इत्यादि, चीज़ों का नाम लिया जाय तो उँगली से उनकी तरफ़ इशारा कर देता है, माता-पिता की क्रियाओं का अनुकरण करने लगता है, टट्टी-पेशाब को रोकना सीख जाता है।

डेढ़ वर्ष—दौड़-धूप करने लगता है, हर वस्तु को जानने की इच्छा प्रकट हो जाती है, वस्तुओं का संग्रह करने लगता है, जो-कुछ पाता है उठा लेता है।

द्वितीय वर्ष—छोटे-छोटे वाक्य बोलने लगता है, कोई तस्वीर दिखा कर पूछा जाय कि अमुक चीज़ कहाँ है तो तस्वीर में उस वस्तु पर उँगली रखकर उसकी पहचान बता सकता है, रंगों में भेद कर सकता है। पहले अपने को 'वह' कह कर पुकारता था, माता-पिता कहते थे—'मुन्ना को भूख लगी है'—तो वह भी अपने लिए कहता था 'मुन्ना को भूख लगी है', अब वह अपने लिए 'वह' के स्थान में 'मैं' का प्रयोग करने लगता है, कागज़ में लिपटी चाकलेट को खोल लेता है।

तृतीय वर्ष—आँख, नाक, मुंह की पहचान होने लगती है, पूछा जाय तो हाथ लगा कर इन्हें बता सकता है, तीन अंकों को दोहरा सकता है, ६–४–१, ३–५–२ बोला जाय तो इसी क्रम से बोल सकता है, तस्वीर की तीन चीज़ें पूछी जायँ तो उन्हें बता सकता है, अपना नाम जान जाता है और बतला देता है—छोटे-छोटे वाक्य बोलने लगता है।

चतुर्थ वर्ष—दो छोटी-बड़ी लम्बी लकीरों के भेद को पहचानने लगता है, चार पैसे तक गिन सकता है, एक चतुर्भुज बना दी जाय तो उसकी नकल कर सकता है। इस आयु में साधारण-से प्रश्नों का समझदारी से उत्तर दे सकता है। उदाहरणार्थ, अगर पूछा जाय कि नींद आ रही हो तो क्या करोगे, ठंड लग रही हो तो क्या करोगे, भूख लग रही हो तो क्या करोगे—इन या इन जैसे प्रश्न पूछने पर अंट-संट उत्तर नहीं देता, समझदारी का उत्तर देता है।

पाँचवाँ वर्ष—अगर एक ही शब्द और रंग के दो चौकोर लकड़ी के टुकड़े उसे दिये जायँ जिनमें से एक ३ ग्राम तथा दूसरा ५ ग्राम का हो, तो यह उनके भार को देखकर बता देगा कि कौन-सा भारी है, कौन-सा हल्का। लाल, पीला, नीला, हरा—रंगों के इन भेदों को बता सकता है। अगर कार्ड पर छपी तीन तस्वीरें दिखाई जायँ, तो उनमें से सबसे सुन्दर कौन-सी है, यह भी बता सकता है। अगर उससे पूछा जाय कि कुर्सी, घोड़ा, चम्मच, कपड़ा, पेंसिल, टेबल—इनका क्या काम है, तो कम-से-कम इनमें से चार का काम तो वह बता ही सकता है। साधारण-सी जो आज्ञाएँ उसे दी जायँ उन्हें जिस क्रम से करना चाहिए उस

क्रम से करता है। उदाहरणार्थ, अगर कहा जाय कि इस चाबी को लेकर उस मेज़ पर रख दो तो पहले वह चाबी लेने आयेगा, फिर उसे लेकर मेज़ पर रखने जायगा। अगर कहा जाय कि वह बक्सा लाओ और फिर दर्वाज़ा बन्द कर दो, तो वह पहले दर्वाज़ा बन्द करने न जाकर पहले बक्सा लाकर देगा, और फिर दर्वाज़ा बन्द करने जायगा।

छठा वर्ष—दायाँ हाथ, बायाँ हाथ, दाईं आँख, बाईं आँख, दायाँ कान, बायाँ कान—यह सब-कुछ बताने लगता है। १३ पैसे तक गिन सकता है। इस आयु के लायक प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे सकता है। उदाहरणार्थ, अगर पूछा जाय कि बारिश हो रही है और तुम बाहर जाना चाहो तो क्या करोगे, अगर घर में आग लग जाय तो क्या करोगे, अगर तुम आगरा जा रहे हो और गाड़ी छूट जाय तो क्या करोगे—तो इन प्रश्नों का वह ऐसा-कुछ उत्तर दे सकेगा जो समझदारी का होगा। अगर उसके सामने '२ आना, १ आना, ४ आना, १ रुपया'—ये बोला जाय तो इनमें से कम-से-कम तीन को वैसा ही दोहरा सकता है। १२–१५ शब्दों के वाक्य को सुनकर उसे वैसा ही दोहरा सकता है।

सातवाँ वर्ष—अगर कहा जाय, दायाँ हाथ उठाओ, कितनी उँगलियाँ हैं? बायाँ हाथ उठाओ, कितनी उँगलियाँ है?—इन क्रियाओं को ठीक-ठीक कर सकता है, और इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे सकता है। कोई तस्वीर दिखाई जाय, उसमें शेर हरिण के पीछे भाग रहा है, तो इस सारी क्रिया का तस्वीर को देख कर वह ठीक-ठीक वर्णन कर सकता है।

३–१–७–५–९, ४–२–८–३–५—इस प्रकार की पाँच अंकों की संख्या को सुनकर ठीक वैसा दोहरा सकता है। उसके सामने गाँठ बाँधी जाय, तो उसे देखकर वैसी गाँठ बाँध सकता है। मक्खी-तितली में, पत्थर-अंडे में, लकड़ी-शीशे में भेद पूछा जाय, तो बता सकता है, हीरे की शक्ल की तस्वीर बनाई जाय तो उसकी पेंसिल तथा स्याही से नकल कर सकता है।

आठवाँ वर्ष—आठवें वर्ष में बालक २० से १० तक उल्टी गिनती कर सकता है। इस समय उसकी 'गेंद तथा क्रीड़ा-क्षेत्र-परीक्षा' (Ball and Field Test) ली जाय, तो उसका समझदारी का उत्तर देता है। 'गेंद तथा क्रीड़ा-क्षेत्र परीक्षा' क्या है? कल्पना करो कि खेलते-हँसते तुम्हारी गेंद इस क्रीड़ा-क्षेत्र में गुम हो गई है। तुम्हें मालूम नहीं कि क्षेत्र के किस भाग में गेंद जा पड़ी है, ना ही तुम्हें यह मालूम है कि गेंद किधर से आई और किधर गई। तुम्हें सिर्फ़ इतना मालूम है कि गेंद इसी क्रीड़ा-क्षेत्र में है, और यहीं खो गई है। क्रीड़ा-क्षेत्र का एक नक्शा बना कर एक पेंसिल से निशान बनाकर बतलाओ कि तुम कहाँ-कहाँ उसे ढूंढोगे ताकि गेंद का पता पा जाओ। दरवाज़े से शुरू करो। इस 'गेंद तथा क्रीड़ा-क्षेत्र परीक्षा' का उत्तर भी आठ वर्ष का बालक ऐसा देगा जो समझदारी से पूर्ण होगा। इसी प्रकार अगर इस बालक से पूछा जाय कि यदि तुम से किसी की चीज़ टूट जाय तो तुम क्या करोगे, यदि स्कूल जाते हुए तुम्हें घड़ी देखने पर मालूम हो कि तुम ठीक समय पर स्कूल नहीं पहुँच सकोगे तो क्या करोगे, यदि तुम्हारे किसी साथी से अनजाने तुम्हें चोट लग जाय तो तुम क्या करोगे—इन प्रश्नों

का उत्तर पूछे जाने पर आठ वर्ष के बालक के उत्तर युक्तिपूर्ण पाये जायेंगे।

नौवाँ वर्ष—इस आयु में बालक तारीख़, दिन, मास, वर्ष आदि बतला सकता है, क्या तारीख़ है, कौन-सा वार और कौन-सा महीना है—इस सब का ज्ञान उसे हो जाता है। अगर एक ही रूप-रंग के ३, ६, ९, १२, १५ ग्राम के वज़न के पाँच लकड़ी के टुकड़े उसे दिये जायँ, तो उन्हें भार के क्रम के अनुसार रख सकता है। एक रुपये का भान दे सकता है। ६–५–२–८, ४–९–३–७ आदि चार अंकों को उल्टे क्रम से दोहरा सकता है। कोई-से तीन शब्द दिये जायँ, तो उनसे पूरा वाक्य बना सकता है। शब्दों के तीन अनुप्रास तक बना सकता है। उदाहरणार्थ, अगर उसे 'लिया' के अनुप्रास-शब्द बोलने को कहा जाय, तो वह लिया, दिया, सिया—इस प्रकार के अनुप्रास-शब्द अपने ज्ञान से कह सकता है।

दसवाँ वर्ष—अगर वाक्य में कोई असंगत बात हो, तो दस वर्ष का बालक उसे पकड़ सकता है। उदाहरणार्थ, अगर कोई कहे कि मुझे ऐसी सड़क का पता है जो मेरे घर से शहर तक नीचे-ही-नीचे जाती और लौटते हुए मेरे मकान तक नीचे-ही-नीचे आती है, तो वह झट कह उठेगा कि यदि मकान से शहर निचाई पर है, तो लौटते हुए शहर से मकान निचाई पर नहीं हो सकता। इसी प्रकार अगर कोई कहे कि पुलिस को एक मृत लड़की के पन्द्रह टुकड़े मिले, ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसने आत्मघात कर लिया, तो वह झट कह उठेगा कि जो आत्मघात करेगा। वह अपने पन्द्रह टुकड़े कैसे कर सकता है। अगर कहा जाय

कि रेल गाड़ी की दुर्घटना हो गई, यह अत्यन्त साधारण दुर्घटना थी, कुल ५० आदमी मरे, तो दस वर्ष का वालक इस वात की असंगतता को समझ जायगा और कह उठेगा कि ५० मर जायं और फिर भी घटना साधारण हो, यह कैसे हो सकता है ? लम्बे-लम्बे वाक्यों को दस वर्ष का वालक दोहरा सकता है, एक-आध ग़लती भले ही कर दे। उसकी समझने की शक्ति भी वढ़ चुकी होती है। अगर उससे पूछा जाय कि यदि कोई व्यक्ति तुमसे किसी ऐसे विषय में सम्मति पूछे जिसे तुम नहीं जानते तो क्या उत्तर दोगे—इस प्रश्न का १० वर्ष का वालक युक्तियुक्त उत्तर देगा। अगर पूछा जाय कि किसी आवश्यक काम को करने से पहले तुम क्या करोगे, तो इसका उत्तर भी इस आयु का वालक युक्तिपूर्ण देगा। अगर पूछा जाय कि किसी मनुष्य की पहचान उसकी वातों की अपेक्षा उसके काम से ज़्यादा की जाती है—इसका क्या कारण है, तो इस प्रश्न का उत्तर भी वह बुद्धिगम्य ही देगा। दस वर्ष का वालक छः अंकों को आसानी से दोहरा सकता है। ३-७-४-८-९-१, ५-२-१-७-४-६ आदि संख्या को सुनकर वह वैसे-का-वैसा दोहरा सकेगा। वह ३ मिन्ट में ६० भिन्न-भिन्न शब्द कह सकेगा।

मनोवैज्ञानिकों ने बालक के मानसिक-विकास की परीक्षा के लिये हर आयु के लिये भिन्न-भिन्न प्रश्नों की तालिका तय्यार की है। हज़ारों बच्चों का वैयक्तिक तथा सामूहिक अध्ययन करने के अनन्तर उन्होंने यह निश्चित किया है कि तीन वर्ष के बच्चों को इन प्रश्नों का उत्तर दे सकना चाहिये, चार वर्ष के बच्चों को इन प्रश्नों का—इत्यादि। तीन वर्ष की आयु का

बच्चा अगर उन प्रश्नों का ठीक उत्तर दे देता है, जो तीन वर्ष की आयु के बच्चों को देना चाहिये, तब तो उसकी मानसिक-विकास की आयु तीन ही वर्ष मानी जाती है, परन्तु यह हो सकता है कि बरसों की दृष्टि से तो कोई बच्चा तीन वर्ष का हो, परन्तु उत्तर देने की दृष्टि से वह तीन वर्ष की आयु के लिये निर्धारित प्रश्नों का उत्तर न दे सकता हो, अथवा इतना तेज़ हो कि तीन वर्ष की आयु के प्रश्न का क्या चार वर्ष की आयु के लिये निर्धारित प्रश्नों का भी उत्तर दे सकता हो। ऐसी हालत में यद्यपि उसकी 'शारीरिक आयु' (Chronological age) तीन ही वर्ष की कही जायगी, तथापि उसकी 'मानसिक-विकास की आयु' (Developmental age) कम या अधिक मानी जायगी। 'मानसिक विकास की आयु' तथा 'शारीरिक विकास की आयु' के पारस्परिक अनुपात को 'विकास लब्धि' (Development quotient अथवा D. Q.) कहते हैं। 'विकास-लब्धि' (D. Q.) प्राप्त करने का तरीका यह है कि 'मानसिक-विकास की आयु' को (D.A.) 'शारीरिक-आयु' (C. A.) से भाग देकर १०० से गुणा कर दिया जाय। अगर किसी बालक की 'विकास की आयु' ६ वर्ष है, 'शारीरिक-आयु' ५ वर्ष है, तो उसकी 'विकास-लब्धि' $६\times\frac{१००}{५}=१२०$ होगी। इस १२० वर्ष का अर्थ यह है कि ५ वर्ष के उस बालक का शारीरिक-विकास अगर १०० माना जाय, तो उसका मानसिक-विकास १२० है, अर्थात् शारीरिक तथा मानसिक-विकास का अनुपात १०० और १२० का है, अर्थात् मानसिक-विकास शारीरिक-विकास से २० अंक आगे बढ़ा हुआ है।

३. चरित्र-सम्बन्धी-विकास

(क) चरित्र तथा व्यक्तित्व

बालक के मानसिक-विकास के साथ-साथ हमें उसके चरित्र के विकास पर भी ध्यान देना चाहिये। चरित्र क्या है? चरित्र मनुष्य के व्यक्तित्व का प्रकाश है। व्यक्तित्व मनुष्य का बाह्य रूप है, चरित्र उसका आभ्यन्तर रूप है। मनुष्य की शक्ल-सूरत, उसके सामाजिक-व्यवहार तथा स्वभाव का दूसरों पर जो प्रभाव पड़ता है उस सब सामूहिक-प्रभाव का नाम 'व्यक्तित्व' है, 'चरित्र' इसी व्यक्तित्व का एक आवश्यक अंग है। जैसे बीज विकसित होकर वृक्ष बन जाता है, वैसे चरित्र विकसित होकर व्यक्तित्व बन जाता है, जैसे फूल की सुन्दरता को चमकाने वाली वस्तु सुगंध है, वैसे व्यक्तित्व की शोभा चरित्र से है।

(ख) नव-जात शिशु तथा चरित्र

पहले यह समझा जाता था कि शिशु जब उत्पन्न होता है तब अपने चरित्र को साथ लाता है, ठीक ऐसे जैसे पुष्प की हरेक पत्ती उसकी डोडी में छिपी रहती है। उस समय यह विचार प्रचलित था कि बालक का चरित्र पहले-से ही बना-बनाया होता है, उसका सिर्फ़ समय के अनुसार विकास होना होता है। वर्तमान मनोविज्ञान ने इस सिद्धान्त को ग़लत सिद्ध कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि जन्म के साथ शिशु कुछ जन्म-गत 'मूल-शक्तियाँ' (Instincts) लाता है, वे शक्तियाँ जिनका हमने 'प्रेरक-शक्तियों' (Drives) के रूप में इस पुस्तक क प्रारम्भ में वर्णन किया है। ये शक्तियाँ मनुष्य तथा पशु में एक-

समान पायी जाती हैं, परन्तु यह समझ लेना कि इन 'प्रेरक-शक्तियों' के कारण शिशु का चरित्र बना-बनाया आता है, ग़लत है। ये 'प्रेरक-शक्तियाँ' चरित्र के निर्माण में सहायक होती हैं, परन्तु इनके आधार पर चरित्र अच्छा या बुरा किसी भी तरह का बन सकता है। 'संचय' करने की 'प्रेरक-शक्ति' है, इससे आदमी कंजूस-मक्खीचूस भी बन सकता है, इसी शक्ति से किसी बड़े म्यूज़ियम का संचालक भी बन सकता है। इसलिये यह समझना ग़लत है कि बालक बना-बनाया चरित्र लेकर आता है, बनी-बनाई 'प्रेरक-शक्तियाँ' लकर तो आता है, परन्तु उनके आधार पर अपने और माता-पिता के प्रयत्न से चरित्र का निर्माण करता है।

(ग) चरित्र-निर्माण कैसे होता है ?

हमने देखा कि बालक के चरित्र का निर्माण जन्म लन के बाद होता है, वह बना-बनाया चरित्र लेकर नहीं आता। जिन बातों पर चरित्र निर्भर है, वे निम्न हैं :—

(क) **परिस्थिति**—बालक जिन 'प्रेरक-शक्तियों' (Drives) को लेकर जन्म लेता है उनमें से कौन-सी उसके जीवन में मुख्य रहेगी, कौन-सी गौण हो जायगी, यह परिस्थिति पर निर्भर है। 'भय' की एक 'प्रेरक-शक्ति' है। परिस्थिति के कारण एक बालक भूत-प्रेत के नाम से, अंधेरे से डरने लगता है, दूसरे के लिए भूत-प्रेत कोई चीज़ नहीं, अन्धेरे में वह इकला जा सकता है, परन्तु झूठ बोलने से डरता है, अपराध करने से डरता है। बालक की परिस्थिति से अभिप्राय उस सब से है जिसका बालक से किसी प्रकार का भी बाह्य संपर्क है। बालक के परिवार के

सब व्यक्ति, उसके माता-पिता, भाई-बहन, अभिभावक, दादा-परदादा, अध्यापक, खेल-खिलौने, घर के पालतू जानवर—सब बालक की परिस्थिति है। गाँव, शहर या देश भी उसकी परिस्थिति में शामिल हैं, परन्तु जिस परिस्थिति के साथ उसका दिन-रात का संबंध बना रहता है उसका उसके चरित्र-निर्माण में सबसे ज्यादा हाथ रहता है।

(ख) **सुरक्षा की भावना**—बालक में सुरक्षा के प्रति जो भावना होती है उसका भी उसके चरित्र पर भारी प्रभाव पड़ता है। अगर वह अनुभव करे कि उसकी देख-रेख करने वाला कोई नहीं, किसी समय भी उसका जीवन संकट में पड़ सकता है, तो वह ठीक तरह से विकसित नहीं हो पाता। अपनी सुरक्षा के लिए चोरी कर बैठता है, खाने को नहीं मिलेगा तो क्या करूँगा, यह सोचकर ही किसी की जेब काट डालता है। बालक के चरित्र का विकास होने के लिए उसका यह अनुभव करना आवश्यक है कि वह हर तरह से सुरक्षित है। वही वृक्ष पूरा बढ़ पाता है जिसे खाद-पानी पूरा-पूरा मिलता है, ठीक इसी तरह वही बालक चरित्र-निर्माण के मार्ग पर सफल होता है जिसे सुरक्षा का पूरा भरोसा होता है, नहीं तो चरित्र की चिन्ता के स्थान में उसे पेट की चिन्ता पथ-भ्रष्ट कर देती है।

(ग) **आलोचना तथा संयम**—चरित्र-निर्माण के लिए आलोचना आवश्यक वस्तु है। अपने साथियों की आलोचना सुन कर ही बालक संयम सीखता है। कोई कुछ कहने वाला न हो, तो कौन किस की पर्वा करता है। जैसे बड़े-बड़े आँधी-तूफ़ान वृक्ष की ऊँचाई तथा तने के ढलाव का निर्णय करते हैं, वैसे समाज

की आलोचना रूपी ठंडी हवाएँ मनुष्य के निर्माण में अपना हाथ बँटाती हैं।

४. शिशु के जीवन के पहले कुछ सप्ताह

शिशु जन्म से पहले माता के गर्भ में एक स्थिर, सुरक्षित वातावरण में था, जन्म लेते ही उसकी परिस्थिति हर घड़ी बदलने लगती है, इसलिए शिशु के जीवन के पहले सप्ताहों में हमें निम्न बातों की तरफ़ ध्यान देना चाहिए ताकि उसके चरित्र का विकास ठीक दिशा में हो सके :—

(क) **सुरक्षा का अनुभव**—हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे शिशु को असुरक्षा का अनुभव हो। शुरु-शुरु में हाथ का या गोद का सहारा न मिलने से वह अपने को असुरक्षित अनुभव करता है। वह हर समय किसी के सहारे टिका हुआ है, अपने पैरों पर तो खड़ा नहीं है। इसी प्रकार ज़ोर की आवाज़ से भी वह अपने को असुरक्षित अनुभव करता है। जो बच्चे हर समय डरे-से रहते हैं उनके डर का कारण यही होता है—या तो किसी समय एकदम वे सहारा हटने से गिर चुके होते हैं, या किसी ज़ोर के शब्द से डर चुके होते हैं। बच्चे की इस प्रकार की भयभीत रहने की अवस्था स्वाभाविक नहीं है, प्रतिकूल परि-स्थितियों की प्रतिक्रिया का परिणाम होती है।

(ख) **माता की बेचैनी**—कई बच्चों की माताएँ स्नाय-वीय प्रकृति की होती हैं, हर समय बेचैन और घबरायी-सी रहती हैं। उनकी सारी घबराहट की छाप बच्चे पर अमिट तौर पर बैठ जाती है। शान्त प्रकृति की माता की सन्तान हर बात में शान्ति से काम करना सीखती है, अशान्त प्रकृति की माता की

सन्तान हर बात में अशान्ति से काम करना सीखती है। कभी-कभी धाय भी बच्चे को कपड़ा पहनाते या उतारते समय घबराहट का परिचय देती है। धाय की इस स्नायवीय-प्रकृति का प्रभाव बच्चे पर पड़े बगैर नहीं रहता। इस स्नायवीय-प्रकृति का यह असर होता है कि बच्चा हर समय घबराया-सा रहता है, ज़रा-सा भी शोर बर्दाश्त नहीं कर सकता, शोर में सो नहीं सकता। स्वस्थ प्रकृति के बच्चे, माता-पिता की बात-चीत चल रही हो, रेडियो बज रहा हो, घर में चलने-फिरने की आहट हो रही हो, तो भी मज़े में सोते हैं, स्नायवीय-प्रकृति के बच्चे इस प्रकार की गड़बड़ में सो नहीं सकते। माता की शान्ति बच्चे को शान्त बना देती है।

(ग) **आदतें**—आदत का काम जीवन के क्रिया-कलाप में बचत कर देना है। आदत न हो, तो हर बात बार-बार नये सिरे से करनी पड़े। कई आदतें बच्चे में शुरू से ही डालने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रारंभ से ही बच्चे को इकले सोने की आदत डालनी चाहिए। इकले होने का अर्थ है बच्चे में आत्म-निर्भरता की भावना का उत्पन्न हो जाना। आत्म-निर्भरता व्यक्ति के चरित्र के निर्माण की मानो आधार-शिला है। भोजन, मल-मूत्र त्याग, निद्रा आदि सब बातों की शुरु से ही नियमित आदत डाल देना आवश्यक है, माता तथा शिशु का इसीमें हित है। शिशु को ३ घंटे बाद दूध दिया जाय या ४ घंटे बाद, जब भी दूध दिया जाय उसकी हर बार कितनी मात्रा दी जाय—इन सब बातों का निश्चय पुस्तकों से न करके शिशु की रुचि के अनुकूल करना चाहिए, परीक्षण करके, देखकर कि शिशु के हित में क्या

है, तब इन बातों का निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार जो निर्णय किया जायगा वह शिशु के स्वभाव के अनुकूल होगा और वैसी आदत डालना शिशु के हित में होगा। कई माताएँ ज़रा-सा रोने पर शिशु को दूध पिलाने लगती हैं, कई उसे घंटों चिल्लाने देती हैं—दोनों बातों से शिशु की आदत बिगड़ती है। शिशु के कष्ट का पता लगाकर उसे तत्काल दूर कर देने से उसकी आदत बिगड़ती नहीं। हर बात की ठीक आदत डाल देने से उसका चरित्र ठीक ढलता है।

(घ) **स्तन-पान**—शारीरिक-दृष्टि से माता के स्तन का दूध आदर्श भोजन है, दूसरा कोई भोजन इसका स्थान नहीं ले सकता। मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से भी स्तन-पान में माता का निकटतम स्पर्श शिशु की आत्म-तृप्ति का कारण होता है, इसमें उसे माता की कोमलता का अनुभव होता है, इसके अभाव से उसमें 'स्नायु-रोग' (Neurosis) उत्पन्न हो सकता है। स्तन-पान में शिशु को दूध निकालने के लिए कुछ उद्योग करना पड़ता है, बोतल का दूध तो गुरुत्व-शक्ति के कारण अपने-आप निकलता है, अतः उसमें शिशु को उद्योग नहीं करना पड़ता। उद्योग ही तो जीवन का नियम है, इसीसे मनुष्य का चरित्र बनता है। बड़े होकर बालक को जीवन में उद्योग-ही-उद्योग करना पड़ता है, इसलिए बोतल से दूध लेने की अपेक्षा स्तन-पान द्वारा दूध लेने में बच्चे के चरित्र में उद्योगशीलता की नींव पड़ जाती है। स्तन द्वारा दूध पिलाने में माता को बेचैनी और घबराहट से काम नहीं लेना चाहिए। ऐसा करने से माता की बेचैनी दूध द्वारा बच्चे में जा पहुँचती है। माता को शान्त-भाव से काम लेना

चाहिए, इससे बच्चे का स्वभाव भी शान्त हो जाता है।

(ङ) **माता-पिता का बच्चे के प्रति रुख**—बहुधा माता-पिता बच्चे को कुछ गिनते ही नहीं, वे उसे अपनी इच्छानुसार ढालना चाहते हैं। माता-पिता को समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक बच्चे का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है, हमारा काम उसे अपने जनून के मुताबिक ढालना नहीं, अपितु उसके गिर्द अपने को विकसित करने की अनुकूल परिस्थिति उपस्थित कर देना है जिससे उसकी अन्तर्तम प्रकृति अपना स्वतंत्र विकास कर सके। माता-पिता का काम बच्चे को पूर्ण सुरक्षा देना है, उसकी भूख-प्यास, रहन-सहन, शिक्षा आदि का प्रबन्ध करना है, उसके निर्बाध विकास में जो रुकावटें हों उन्हें दूर कर देना है। इतना कर देने के बाद उसने जो-कुछ बनना होगा वह बन जायगा, उसके चरित्र का विकास अपने अनुकूल परिस्थितियों को पाकर स्वयं होने लगेगा।

५. पांच वर्ष की आयु तक शिशु का जीवन

शिशु के जीवन के प्रथम पाँच वर्ष चरित्र-निर्माण में सबसे आवश्यक वर्ष हैं। स्कूल जाने से पहले इन वर्षों में उसके चरित्र की आधार-शिला सदा के लिए रख दी जाती है। जीवन के प्रारंभ के इन दिनों के प्रभाव शिशु के कोमल मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। इन दिनों में शिशु जो सामाजिक-व्यवहार सीख जाता है, उसके आगामी जीवन में वैसी परिस्थितियों में वह उसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करता है। यह वह समय है जब बच्चे की मानस-भूमि में उत्तम-से-उत्तम विचारों का बीज रोपा जा सकता है, ऐसे विचार जो परिपक्व होने पर उसके

चरित्र को समाज के लिए आदर्श बना सकें, और उसे मानव-जाति की उन्नति में दूसरों के लिए अनुकरणीय बना सकें।

इन पाँच वर्षों में बच्चे में किस प्रकार के विचारों की नींव डाल देनी चाहिए? यही समय तो बीज बोने का है, इस समय बीज पड़ गया, तो सारी आयु उसके फल जीवन को मिठास से भरते रहेंगे। इस समय चरित्र-निर्माण की जिन बातों पर ध्यान देना चाहिए उनमें से कुछ निम्न हैं :—

(१) **स्वतंत्रता तथा आत्म-निर्भरता** (Independence and self-reliance)—चरित्र का सबसे पहला गुण जिसकी तरफ़ माता-पिता का ध्यान जाना चाहिए वह बच्चे को स्वतंत्र तथा आत्म-निर्भर बनाने का है। वह पर-मुखापेक्षी न रहे। निम्न बातों पर ध्यान देने से बच्चे में आत्म-निर्भरता बढ़ती है :—

(क) बच्चा हर काम को अपने-आप करना चाहता है। माता-पिता या तो जल्दी में होते हैं, या बच्चे को सहायता करना चाहते हैं, इसलिए बच्चे के काम को वे स्वयं कर दिया करते हैं। इससे आत्मनिर्भर होने का उसका उत्साह मन्द पड़ जाता है। अगर वह खा रहा है, तो वह स्वयं ग्रास तोड़े, इसके स्थान में माता ग्रास तोड़-तोड़ कर उसके मुँह में डालती जाती है, अगर कपड़े पहन रहा है, तो उसे स्वयं पहनने देने के बजाय माता उसे कपड़े पहनाने लगती है, अगर छोटा-सा बर्तन लेकर नहा रहा है, तो माता उसके हाथ से बर्तन लेकर उसे नहलाने लगती है। यह सब ग़लत तरीक़ा है। बच्चे को अपना काम स्वयं करने दो। क्या हो जायगा? पहले वह ठीक-से न कर सकेगा।

धीरे-धीरे गलतियाँ करते-करते वह सीख जायगा। प्रकृति ने सीखने के लिए ही तो उसमें हर काम स्वयं करने की इच्छा डाल रखी है। माता कहाँ तक वच्चे का हर काम करेगी। आखिर, वड़े होकर तो उसने अपने सव काम अपने-आप करने हैं। इसका श्रीगणेश शुरु से ही क्यों न कर दिया जाय, ऐसे समय से जव वह स्वयं अपने सव काम करने के लिए उत्सुक है। जव वच्चा स्वयं करके किसी काम को सीख रहा हो, तो तुम सहायता वेशक करो, परन्तु वाधाओं पर विजय पाने के उसके इस उद्योग में, काम को स्वयं करके सीखने में रुकावट मत वनो, इससे उसे निराशा होती है। वह अपनी सारी शक्तियों को लगाकर अपनी परिस्थिति पर विजय पाना सीख रहा होता है, तुम वीच में पड़ कर एक मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया में वाधा डाल देते हो। इस वाधा के परिणामस्वरूप 'हीनता की भावना' (Feeling of inferiority) उत्पन्न हो सकती है। यह भावना वच्चे को जन्म भर दूसरों की सहायता चाहने वाला बना देगी।

(ख) जव हम वच्चे को किसी काम को करते हुए रोक देते हैं, तव उसकी क्रिया-शक्ति में रुकावट आ पड़ती है। क्रिया-शक्ति में रुकावट का परिणाम क्रोध है। जो माता-पिता बच्चे को किसी काम को करते देखकर उसमें रुकावट डालते हैं, वे बच्चे को क्रोधी वना देते हैं। वच्चे को किसी काम के लिए वाधित मत करो, वह जो कर रहा है करने दो, उसकी क्रिया-शक्ति में रुकावट मत वनो—इससे वह आत्म-निर्भरता सीखेगा, साथ ही क्रोधी स्वभाव का नहीं बनेगा। अक्सर माता-पिता खाने-पीने के लिए वच्चे को डाँट-डपट करते हैं—यह खाओ, यह मत खाओ,

ऐसे खाओ, ऐसे मत खाओ। इस प्रकार की ज़बर्दस्ती बच्चे में अन्दर-ही-अन्दर घुटन पैदा कर देती है, वह चिड़चिड़ा हो जाता है। खाता है तो खाये, नहीं खाता तो न खाये, आखिर कबतक नहीं खायेगा? खाना तो उसे पड़ेगा ही, फिर खाने के लिए बाधित क्या करना। बालक अपना महत्व जतलाने के रास्ते ढूंढ़ा करता है। अगर उसे यह अनुभव हो जाय कि मैं खाना नहीं खाऊँगा तो मेरी माँ मेरे लिए व्याकुल हो जायगी, मेरा महत्व खूब ज़ोर से प्रकट होगा, तो वह खाना न खाने के बहाने बनाना सीख जायगा। बालक की बहुत लल्लो-पत्तो करना ठीक नहीं, चलने दो उसे अपने रास्ते पर, अपने रास्ते पर चलकर जब वह ठीक रास्ते पर आयेगा तब उसकी आदत ठीक पड़ेगी। इसी प्रकार कई माता-पिता बच्चे को ज़रा कब्ज़ हुई नहीं कि ज़मीन-आस्मान एक कर देते हैं। साधारण-सी कब्ज़ से कोई हानि नहीं होती। हाँ, पेट दर्द होने लगे, बुखार आ जाय, तब तो फ़िक्र करना चाहिये, नहीं तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर हंगामा खड़ा कर देना बच्चे को बिगाड़ने का सबसे बड़ा तरीका है। वह रोगी न हो तो भी रोगी होने का बहाना करने लगता है, वह समझता है कि रोगी रहकर ही उसकी पूछ होती है। स्नान करने पर भी कई माता-पिता बच्चे के साथ लड़ाई मोल ले लेते हैं। सतर्कता से चला जाय तो बच्चे को स्नान के लिए प्रेरित करना बहुत आसान काम है, परन्तु माता-पिता को हर काम को बच्चे को कराने की इतनी व्यग्रता रहती है कि बच्चा भी हर बात में ज़िद्द करना सीख जाता है, हर बात में कहने लगता है—मैं यह नहीं करूँगा, वह नहीं करूँगा। माता-पिता ने जो काम बच्चे से कराना हो उसे वे

बड़ी होशियारी से बच्चे से ही करवा सकते हैं—इससे उसकी क्रिया-शक्ति में बाधा नहीं पड़ेगी, वह क्रोधी नहीं बनेगा, और माता-पिता जो-कुछ चाहेंगे बच्चे से करवा भी सकेंगे।

जब बच्चा चलना सीख रहा हो, तो बार-बार उसको सहायता देने का प्रयत्न न करो, इससे वह आत्म-निर्भरता का पाठ नहीं सीखेगा। उसे बार-बार गिरने दो, चोट खाने दो। ज़रा-सी चोट लगने पर माँ-बाप बच्चे को गोद में लेकर उसे चूमने-पुचकारने लगते हैं। बच्चे को ज़रा-सी चोट लगी देख कर जब माँ-बाप चीख़ उठते हैं, तब बच्चा भी समझता है कि वाक़ई कोई भयंकर घटना हो गई, नहीं तो बच्चे बड़ी-बड़ी चोट लगने पर भी आँसू नहीं गिराते, ख़ून बह जाय तब भी उनके मुंह से उफ़ तक नहीं निकलती। ३–४ वर्ष के बच्चे के चोट लग जाय, तो उसके चरित्र-निर्माण के लिए, उसके आत्म-निर्भर होने के लिए दूसरा कोई दवाई लाये इसकी अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि वह स्वयं टिंचर आयोडीन की शीशी घर से उठा कर लाये। बच्चे को मेज़-कुर्सी से चोट लगती है, तो माता-पिता मेज़-कुर्सी को पीट देते हैं, कहते हैं कैसी बुरी है यह मेज़ जिसने मुन्ना के चोट मार दी। यह ग़लत तरीका है। इससे बच्चे को अपने दोष के लिए दूसरों को दोषी ठहराने की आदत पड़ जाती है, उसका जीवन के प्रति दृष्टि-कोण, उसकी धारणा ग़लत बन जाती है। वह समझने लगता है कि अगर कहीं उसे जीवन में असफलता हुई, तो उसका कारण वह स्वयं नहीं है, उसकी असफ़लता के कारण दूसरे लोग हैं। इसी भावना का परिणाम है कि हम कभी इसको, कभी उसको कोसते हैं, कभी भगवान् को हर बात का ज़िम्मेदार ठहरा देते हैं

जब कि हमारी सफलता अथवा असफलता के हमीं कारण होते हैं।

(घ) माता का दूध छोड़ते समय बच्चे को आत्म-निर्भरता का पाठ सीखने की एक ज़बर्दस्त घड़ी आती है। मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से यह समय बड़ा महत्वपूर्ण है। अगर इस समय सावधानी से काम न लिया जाय, तो बच्चे में विफलता की भावना घर कर जाती है, वह जीवन के प्रति निराशा के दृष्टि-कोण से देखने लगता है। बच्चे को अपना दूध छुड़ाते हुए माता को एक बड़ा भारी त्याग करना पड़ता है। अब तक उसे यह देख कर महान् आत्म-संतोष होता था कि एक ऐसा प्राणी है जो बिल्कुल उसी पर निर्भर है। इस आत्म-तुष्टि की भावना को त्यागते हुए माता को अच्छा नहीं रुचता। बच्चा भी अबतक माता का स्तन-पान करता हुआ एक अपूर्व सुख का अनुभव करता था। माता को दूध छुड़ाते हुए और बच्चे को छोड़ते हुए कुछ कष्ट अवश्य होता है, परन्तु दोनों का एक-दूसरे के लिए जीवन का यही यथार्थ दृष्टि-कोण है। माता ने बच्चे को सदा सम्हालना नहीं है, न ही बच्चे ने सदा माता पर निर्भर रहना है। बच्चे का दूध छोड़ना इसी भावना का प्रतीक है। अब से दोनों को एक-साथ रहते हुए भी एक-दूसरे से दूर रहने का पाठ सीखना है, उनको आपस में बाँधने वाला बन्धन स्वार्थ न होकर एक-दूसरे की निःस्वार्थ सेवा है—यह सीखना है। अब बच्चा माता की सहायता के बिना खाना खाना सीखने लगता है, हाथ से खाता है, चम्मच से खाता है। इस समय बच्चे को अपने-आप खाने देना चाहिए, छ गिराता है, कपड़े ख़राब कर लेता है, तो इसकी पर्वा नहीं

करनी चाहिए, वह गलतियाँ करके सीख रहा होता है, दूसरों के सहारे न रहकर अपने पैरों पर खड़ा हो रहा होता है।

(२) **नैसर्गिक-शक्तियों का रूपान्तरण** (Sublimation of instincts)—हम पहले देख चुके हैं कि बालक में कुछ 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts-Drives) जन्म से होती हैं। उदाहरणार्थ, 'आत्म-गौरव की भावना' (Self-assertion instinct), 'जिज्ञासा' (Curiosity), 'भय' (Fear), 'ईर्ष्या' (Jealousy) आदि सबमें पायी जाती हैं। इन नैसर्गिक-शक्तियों का इनके नग्न रूप में प्रकाश मानव-समाज के हित में नहीं होता, परन्तु इन्हें इस प्रकार ढाला जा सकता है जिससे व्यक्ति तथा समाज दोनों का भला हो। नैसर्गिक-शक्तियों को इस प्रकार ढालने को, इस प्रकार उन के रूप को बदल देने को 'रूपान्तरण' या 'विलयन' (Sublimation) कहते हैं। हम बालक की कुछ मुख्य-मुख्य 'नैसर्गिक-शक्तियों' की यहाँ संक्षेप में चर्चा करेंगे :—

(क) **आत्म-गौरव की भावना** (Self-assertion)—हर व्यक्ति की इच्छा अपने को आगे बढ़ाने की होती है। कोई एक तरह और कोई दूसरी तरह अपनी शान बघारना चाहता है। जब बड़ों में यह इच्छा कभी-कभी नग्न रूप धारण कर लेती है, तब बच्चों की तो बात ही क्या है। वे किसी बात को छिपाना पीछे सीखते हैं, पहले-पहल तो हर बात को अपने स्थूल रूप में ज़ाहिर कर देते हैं। जिस प्रकार के व्यवहार से उन्हें आत्म-गौरव प्राप्त होता दीखेगा उसीको वे करने लगेंगे। अगर उनकी रोने-चिल्लाने से ही पूछ होती है, तो वे दिन भर चें-चें किया करेंगे,

अगर कोई अच्छा काम करने से उनकी पूछ-ताछ होती है, तो वे किसी अच्छे काम की तलाश में रहेंगे। आत्म-गौरव की भावना से ही बड़े होकर मनुष्य जीवन-संग्राम में टिक सकता है, नहीं तो इस आपाधापी की दुनियाँ में कौन किसको टिकने देता है! जबतक मनुष्य को अपनी सार्थकता में, अपनी श्रेष्ठता और अपने मूल्य में विश्वास न हो, तब तक वह कैसे दूसरों के साथ मुकाबिले में आ सकता है। आत्म-गौरव की इस भावना ने ही मनुष्य दूसरों से जूझ पड़ता है, कमज़ोरों की रक्षा के लिए उठ खड़ा होता है। यह भावना जब बहुत उग्र रूप धारण कर लेती है, तब वह बेमतलब हरेक को डराता-धमकाता फिरता है। माता-पिता का कर्तव्य है कि बालक के चरित्र-निर्माण का ध्यान रखते हुए उसकी 'आत्म-गौरव की भावना' के विकास को दबाने के स्थान में ठीक दिशा दें, वह यों ही शेखी न बघारता फिरे, अपने गुणों के द्वारा आत्म-गौरव को प्राप्त करे।

(ख) जिज्ञासा (Curiosity)—बालक अपने चारों तरफ़ की परिस्थिति से परिचय प्राप्त करना चाहता है, इसलिए जो चीज़ सामने आती है उसी को उठा कर जानना चाहता है कि यह क्या है? परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने का यह सबसे बड़ा साधन है। विकसित होते-होते, ठीक दिशा में रूपान्तरित होकर यही जिज्ञासा वैज्ञानिक गवेषणा का रूप धारण कर सकती है। बहुधा माता-पिता बालक की जिज्ञासा की प्रवृत्ति से तंग आ जाते हैं, उसे झिड़क देते हैं, उसकी इस प्रवृत्ति को दबा देते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि बालक बड़ा होने पर व्यर्थ की बातों में टांग अड़ाया करता है, दूसरों के

करनी चाहिए, वह गलतियाँ करके सीख रहा होता है, दूसरों के सहारे न रहकर अपने पैरों पर खड़ा हो रहा होता है।

(२) **नैसर्गिक-शक्तियों का रूपान्तरण** (Sublimation of instincts)—हम पहले देख चुके हैं कि बालक में कुछ 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts-Drives) जन्म से होती हैं। उदाहरणार्थ, 'आत्म-गौरव की भावना' (Self-assertion instinct), 'जिज्ञासा' (Curiosity), 'भय' (Fear), 'ईर्ष्या' (Jealousy) आदि सबमें पायी जाती हैं। इन नैसर्गिक-शक्तियों का इनके नग्न रूप में प्रकाश मानव-समाज के हित में नहीं होता, परन्तु इन्हें इस प्रकार ढाला जा सकता है जिससे व्यक्ति तथा समाज दोनों का भला हो। नैसर्गिक-शक्तियों को इस प्रकार ढालने को, इस प्रकार उन के रूप को बदल देने को 'रूपान्तरण' या 'विलयन' (Sublimation) कहते हैं। हम बालक की कुछ मुख्य-मुख्य 'नैसर्गिक-शक्तियों' की यहाँ संक्षेप में चर्चा करेंगे :—

(क) **आत्म-गौरव की भावना** (Self-assertion)—हर व्यक्ति की इच्छा अपने को आगे बढ़ाने की होती है। कोई एक तरह और कोई दूसरी तरह अपनी शान बघारना चाहता है। जब बड़ों में यह इच्छा कभी-कभी नग्न रूप धारण कर लेती है, तब बच्चों की तो बात ही क्या है। वे किसी बात को छिपाना पीछे सीखते हैं, पहले-पहल तो हर बात को अपने स्थूल रूप में ज़ाहिर कर देते हैं। जिस प्रकार के व्यवहार से उन्हें आत्म-गौरव प्राप्त होता दीखेगा उसीको वे करने लगेंगे। अगर उनकी रोने-चिल्लाने से ही पूछ होती है, तो वे दिन भर चें-चें किया करेंगे,

अगर कोई अच्छा काम करने से उनकी पूछ-ताछ होती है,तो वे किसी अच्छे काम की तलाश में रहेंगे। आत्म-गौरव की भावना से ही बड़े होकर मनुष्य जीवन-संग्राम में टिक सकता है, नहीं तो इस आपाधापी की दुनियाँ में कौन किसको टिकने देता है। जबतक मनुष्य को अपनी सार्थकता में, अपनी श्रेष्ठता और अपने मूल्य में विश्वास न हो, तब तक वह कैसे दूसरों के साथ मुकाबिले में आ सकता है। आत्म-गौरव की इस भावना से ही मनुष्य दूसरों से जूझ पड़ता है, कमज़ोरों की रक्षा के लिए उठ खड़ा होता है। यह भावना जब बहुत उग्र रूप धारण कर लेती है, तब वह बेमतलब हरेक को डराता-धमकाता फिरता है। माता-पिता का कर्तव्य है कि बालक के चरित्र-निर्माण का ध्यान रखते हुए उसके 'आत्म-गौरव की भावना' के विकास को दबाने के स्थान में ठीक दिशा दें, वह यों ही शेखी न बघारता फिरे, अपने गुणों के द्वार आत्म-गौरव को प्राप्त करे।

(ख) **जिज्ञासा** (Curiosity)—बालक अपने चारों तरफ़ की परिस्थिति से परिचय प्राप्त करना चाहता है, इसलिए जो चीज़ सामने आती है उसी को उठा कर जानना चाहता है कि यह क्या है? परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने का यह सबसे बड़ा साधन है। विकसित होते-होते, ठीक दिशा में रूपान्तरित होकर यही जिज्ञासा वैज्ञानिक गवेषणा का रूप धारण कर सकती है। बहुधा माता-पिता बालक की जिज्ञासा की प्रवृत्ति से तंग आ जाते हैं, उसे झिड़क देते हैं, उसकी इस प्रवृत्ति को दबा देते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि बालक बड़ा होने पर व्यर्थ की बातों में टाँग अड़ाया करता है, दूसरों के

करने के वाद फिर खेल में जुट जाय। वच्चे को यह नहीं अनुभव होना चाहिए कि उसे जवर्दस्ती विस्तर में लिटा कर सुलाया जा रहा है, जवर्दस्ती निल्हाया जा रहा है, उसका जीवन माता-पिता की देख-रेख में स्वयं इतना नियमित हो जाना चाहिए जिससे सोने के समय वह स्वयं विस्तर पर आकर सो जाय, स्नान के समय स्वयं स्नान करने को कहे, टट्टी जाने के समय टट्टी हो आये। इन वातों को वह नियत समय पर करे और माता-पिता की तरफ़से इनमें किसी प्रकार का हस्त-क्षेप भी न अनुभव करे—इसीमें माता-पिता की चतुरता है।

(४) **विधि-पूर्वक निर्देश देना**—वालक को जो निर्देश दिये जायँ, वे निषेधात्मक न होकर विधि-पूर्वक होने चाहियें तभी उसका चरित्र ठीक वन सकता है। अगर उसे कहा जायगा—'तुम वड़े शरारती हो'—तो वह अपना इसी प्रकार का खाका खींच लेगा, अपने चरित्र को निषेधात्मक वना लेगा। हमें वच्चे को सम्बोधन करके कहना चाहिए कि तुम वड़े अच्छे हो, अच्छे वच्चे ठीक समय पर सो जाते हैं—ऐसे विधिपूर्वक निर्देशों से वह अपने को अच्छा वनाने का प्रयत्न करता है। माता-पिता की तरफ़ से 'विधि पूर्वक निर्देश' (Positive suggestions) वालक को सन्मार्ग की तरफ़ ले जाते हैं, 'निषेधात्मक-निर्देश (Negative suggestions) उसे उलटे मार्ग की तरफ़ ले जाते हैं।

(५) **साहसिक-कार्यों का प्रोत्साहन**---वच्चे को साहसिक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। वृक्ष पर चढ़ना, छलांग मारना, कुश्ती लड़ना, कभी-कभी मार-पीट कर आना

बालक में साहस को उत्पन्न करते हैं। माता-पिता डरते रहते हैं, कहीं हड्डी न टूट जाय, कहीं टाँग न टूट जाय, कहीं चोट न लग जाय! ऐसे बच्चों की टाँग टूटती है, जो टाँग टूटने से डरते रहते हैं, जो डरते नहीं उनकी टाँग भी नहीं टूटती। साहसिक कार्यों का बच्चे के चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है।

(छ) **नियन्त्रण**—ऊपर जो-कुछ कहा गया है उसका यह अभिप्राय नहीं है कि बच्चे पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं चाहिए, उसे हर बात में अपनी इच्छा पर ही छोड़ देना चाहिए। नियन्त्रण आवश्यक है, समय-समय पर दंड देना भी आवश्यक हो जाता है, परन्तु बच्चे को कार्य-कारण का सदा ज्ञान होना चाहिए। ऐसा दंड देना जिसका अपराध से किसी प्रकार का संबंध न जोड़ा जा सके, बच्चे में प्रतिक्रिया की भावना को उत्पन्न कर देता है। बच्चे को नियन्त्रण में रखते हुए उसे अनुभव होना चाहिए कि जो प्रतिबंध उस पर लग रहे हैं वे उसी के हित में हैं, यह अनुभव न हो कि प्रतिबन्ध निरर्थक हैं।

शब्द-सूची तथा अनुक्रमणिका
(Glossary and Word-Index)

नामानुक्रमणिका

Name Index